ॐ

पातञ्जलयोगसूत्र

समाधिपाद

सूत्र—अथ योगानुशासनम्॥ १.१॥

अर्थ—अब योग की शिक्षा (आरम्भ होती है)

व्याख्या

शास्त्रों के प्रारम्भ में 'अथ' शब्द मङ्गल का अर्थ देता है। यह शास्त्र सबके कल्याण के लिए बनाया गया है, शुष्क वाद-विवाद के लिये नहीं है। 'अनुशासन' शब्द का वही अर्थ है जो अंग्रेजी में 'डिसिप्लिन' का है। शिक्षा-जगत् में जब हम किसी का 'डिसिप्लिन' पूछते हैं तो वह अपने पठन-पाठन का विषय-विशेष, यथा साहित्य, गणित आदि, बताया करता है।

योग शब्द का अर्थ—मनुष्य-मात्र में दिव्यता अन्तर्निहित है। अपने में अन्तर्निहित इस दिव्यता से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने की प्रक्रिया का नाम **योग** है। जैसे ही हम उस दिव्यता से जुड़ते हैं, दु:खों का अन्त हो जाता है। इसे समाधि कहते हैं, यही मोक्ष है। आधि अर्थात् सुख-दु:ख के प्रति समता का भाव समाधि (सम आधि) है और जब

यह समता का भाव आ जाता है तो हमारा दु:खों के प्रति भय का भाव तथा सुख के प्रति लोलुपता का भाव समाप्त हो जाता है—यही मोक्ष है। शास्त्र की भाषा में दु:खों के प्रति भय का भाव द्वेष कहलाता है तथा सुख के प्रति लोलुपता का भाव राग कहलाता है। राग-द्वेष का अभाव ही वीतरागता है। वीतरागता ही मुक्ति है।

शास्त्र की भाषा से बाहर आकर भी थोड़ी चर्चा कर ली जाए ताकि विषय सरलता से बुद्धिगम्य हो सके। हमारे बाहर एक जगत् है—नदी, पर्वत, वृक्ष, अट्टालिका और जन-समुदाय। हमारे अन्दर भी एक जगत् है—प्रेम, सहानुभूति, करुणा, क्रोध, अहङ्कार, लोभ, वासना। इन दोनों ही प्रकार के जगत् का—बहिर्जगत् का और अन्तर्जगत् का—अपना-अपना महत्त्व है। हम जिस साधन से इस बहिर्जगत् और अन्तर्जगत् को जानते हैं उस साधन का नाम है—चित्तवृत्ति। इससे चित्तवृत्ति का महत्त्व स्वयं उजागर हो जाता है। हमें बहिर्जगत् में व्यवहार करना हो या अन्तर्जगत् में, हमारा व्यवहार तब ही सफल हो सकता है, जब हम बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् के स्वरूप को जान लें क्योंकि बहिर्जगत् तथा अन्तर्जगत् के स्वरूप को जानने का साधन चित्तवृत्ति है, अत: जब तक हम चिन्तवृत्ति का ठीक ढंग से उपयोग करना न सीख लें तब तक हमारा बाहरी जगत् का व्यापार भी सफल नहीं हो सकता, आन्तरिक जगत् के क्षेत्र में तो हम अधिकतर विफल होते ही रहते हैं।

पहले बाहरी जगत् को लें। वैज्ञानिक अपनी चित्तवृत्ति को सब ओर से हटा कर प्रयोगशाला में उसी पदार्थ पर अपना चित्त एकाग्र कर लेता है जिस पदार्थ का स्वरूप वह जानना चाहता है। उसके चित्त की एकाग्रता जितनी सघन होगी पदार्थ के स्वरूप को वह उतनी ही गहराई से जान लेगा। सैकड़ों वैज्ञानिकों ने शताब्दियों तक अपनी चित्त की

एकाग्रता से प्रकृति के रहस्य परत-दर-परत खोलकर रख दिए हैं और अभी भी वे ऐसा करते ही जा रहे हैं। आज जो विज्ञान के चमत्कार हमें दिखाई दे रहे हैं, वे वैज्ञानिकों की चित्त को एकाग्र करने की क्षमता का परिणाम हैं। चंचल चित्त से वे प्रकृति का कोई रहस्य अनावृत्त नहीं कर सकते थे।

बाहरी दुनिया हो या अन्दर की दुनिया, जब हम उसके स्वरूप को यथार्थत: जानते हैं तो वस्तुत: हम सत्य को जानते हैं। बाहरी दुनिया से वैज्ञानिकों ने प्रारम्भ किया और पदार्थ के सत्य को जाना। योग अन्दर की दुनिया पर अपने चित्त को एकाग्र करने की पद्धति है।

जैसे बाहर की दुनिया को—प्रकृति के रहस्य को—जानकर वैज्ञानिकों ने हमारे हाथ में आणविक शक्ति जैसी अद्‌भुत शक्ति पकड़ा दी वैसे ही योगियों ने अन्दर की दुनिया के रहस्य जानकर बाहरी शक्तियों से भी अधिक सशक्त—आध्यात्मिक शक्ति—का सूत्र हमारे हाथ में पकड़ाया।

एक बड़ी सच्चाई यह है कि इस शक्ति का अनुभव किए बिना बड़ी से बड़ी भौतिक उपलब्धि भी हमें तृप्त नहीं कर सकती। भौतिक उपलब्धि हेय नहीं है, किन्तु केवल वही पर्याप्त नहीं है। कारण स्पष्ट है, भौतिक उपलब्धि का क्षेत्र बाहरी दुनिया है लेकिन दुनिया सिर्फ हमारे बाहर ही नहीं, अन्दर भी है। भौतिक उपलब्धि की पहुँच अन्दर की दुनिया तक नहीं है, इसलिए समस्त भौतिक पदार्थ मिल जाने पर भी हमारे अन्दर की दुनिया प्यासी ही रह जाती है। लौकिक दृष्टि से सम्पन्न से सम्पन्न व्यक्ति भी अपने अन्दर एक अभाव का, एक रिक्तता का, अनुभव करता है। इसका कुल कारण इतना है कि उसकी सम्पन्नता

उसकी आन्तरिक विपन्नता को नहीं मिटा पाती। योग हमें चित्तवृत्तियों को इस प्रकार संयमित करने की प्रक्रिया बताता है कि हम अपने वास्तविक स्वरूप को जानकर उसमें स्थिर रह सकें और इस प्रकार दु:खों से मुक्त हो सकें।

सूत्र—योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: ॥ १.२ ॥

अर्थ—चित्तवृत्तियों का निरोध योग है।

व्याख्या

चित्तवृत्तियों का वर्णन विस्तार से स्वयं सूत्रकार ही करेंगे। निरोध का अर्थ चित्तवृत्ति का सर्वथा रोक लेना तो है ही—जिसे असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है, किन्तु निरोध का अर्थ एकाग्रता भी है—जिसे सम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि तो त्रिगुणातीत है किन्तु सम्प्रज्ञात समाधि में सत्त्वगुण प्रधान रहता है और तमस् का आवरण तथा रजस् का विक्षेप क्षीण हो जाता है। प्राय: साधक चित्तवृत्ति का सर्वथा निरोध प्रारम्भ में नहीं कर पाता। अत: प्रारम्भ में तो चित्तवृत्ति की एकाग्रता ही सधती है। इस सब विषय का विस्तार स्वयं पतञ्जलि इसी प्रथम पाद में करेंगे।

चित्तवृत्ति की एकाग्रता का उपयोग—योग चित्तवृत्ति की एकाग्रता की बात को करता ही है साथ ही हमें यह भी बताता है कि हमें अपनी चित्तवृत्ति की एकाग्रता का उपयोग अपने अन्तर्जगत् के स्वरूप को जानने के लिए करना चाहिए।

योग में चित्तवृत्ति की पाँच स्थितियाँ बताई गई हैं—१. चञ्चल चित्तवृत्ति. २. सुषुप्त चित्तवृत्ति, ३. बाहरी जगत् पर केन्द्रित चित्तवृत्ति, ४. आन्तरिक जगत् पर एकाग्र चित्तवृत्ति तथा 5. लय को प्राप्त चित्तवृत्ति।

इनमें चञ्चल चित्तवृत्ति को रजोगुण प्रधान माना जाता है क्योंकि रजोगुण का काम चञ्चलता उत्पन्न करना है। चञ्चल चित्तवृत्ति वाला व्यक्ति क्षण में तुष्ट और क्षण में रुष्ट होता है। वह कहीं भी अपनी चित्तवृत्ति को नहीं टिका पाता है। अत: वह किसी सत्य को नहीं जान पाता। वह हर समय कुछ न कुछ करता हुआ तो दिखाई देता है लेकिन उसे किसी कर्म में भी सफलता नहीं मिलती। फलत: वह दु:खी रहता है। ऐसे व्यक्ति को क्षिप्त कहा जाता है, दूसरे प्रकार के व्यक्ति मूढ़ कहलाते हैं। वे तमोगुण के कारण कुछ करना ही नहीं चाहते और यदि कभी कुछ करते भी हैं तो वह, जो करना नहीं चाहिए। वे या तो आलस्य में पड़े रहते हैं या मार-पीट तथा कलह में अपना समय बिताते हैं। इनकी बड़ी दयनीय स्थिति रहती है।

तीसरे प्रकार के मनुष्यों में सत्त्व गुण प्रधान होता है। वह शास्त्र-विहित कर्म करते हैं। विफल होने पर भी, वे विचलित नहीं होते। वे समाज-कल्याण के कार्य भी करते हैं। उन्हें यश भी मिलता है, और सुख भी। किन्तु ये भी रहते बाहरी दुनिया में ही हैं। ये विक्षिप्त कहलाते हैं।

जैसे ही कोई साधक बाहरी दुनिया से हटकर अन्दर की दुनिया में प्रवेश करता है, वैसे ही वह योग की दुनिया में प्रवेश कर जाता है। उसके सामने अन्दर की दुनिया के रहस्य उद्घाटित होने लगते हैं। उसके सामने अकस्मात् आत्मा का स्वरूप प्रकट नहीं हो जाता है। जैसे कुआँ खोदना प्रारम्भ करने पर शुरू में ही पानी नहीं आ जाता, पहले मिट्टी, फिर पत्थर, फिर कीचड़ और फिर पानी आता है, उसी प्रकार अन्तर्मुखता प्रारम्भ होने पर पहले स्थूलभूतों का, फिर सूक्ष्मभूतों का, फिर 'अहम्अस्मि' ऐसा और फिर 'अस्मि' ऐसा ज्ञान होता है। ये चारों स्थितियाँ सम्प्रज्ञात

समाधि कहलाती हैं जिनका विस्तार से वर्णन आगे चलकर होगा। अभी इतना समझ लेना चाहिए कि अन्तर्जगत् की भी चार अवस्थाएँ हैं—स्थूलभूत अर्थात् स्थूल शरीर, सूक्ष्मभूत अर्थात् सूक्ष्म शरीर, अहङ्कार और चित्त। इन चारों पर चित्त की एकाग्रता से सधने वाली समाधियाँ क्रमश: वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत कहलाती हैं। इन चारों का मिलकर नाम सम्प्रज्ञात समाधि है। यह सम्प्रज्ञात समाधि उस असम्प्रज्ञात समाधि का साधन बनती है जिसमें चित्त का विलय हो जाता है और साधक अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इन सबका स्पष्ट विवरण आगे सूत्र १.४१ से प्रारम्भ होता है।

पतञ्जलि ने योगसूत्र में इस सारी प्रक्रिया का प्रामाणिक परिचय दिया। इस योगसूत्र पर व्यासभाष्य नाम से एक संस्कृत का भाष्य भी लिखा गया जो सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। योगसूत्र के प्रारम्भ में पतञ्जलि ने लिखा कि वे अब योग का अनुशासन करेंगे—अथ योगानुशासनम्। अनुशासन शब्द से स्पष्ट होता है कि पतञ्जलि यह दावा नहीं कर रहे कि वे योग के प्रथम प्रवक्ता हैं। परम्परा योग का प्रथम प्रवक्ता हिरण्यगर्भ को मानती है। यह एक प्रकार से इस बात की स्वीकृति है कि योग विद्या का उद्भव दिव्य है। भारतीय परम्परा सभी विद्याओं का उद्भव दैवी मानती है। इसका रहस्य यही है कि कोई भी ज्ञान किसी भी भौतिक या यान्त्रिक प्रक्रिया से उत्पन्न नहीं होता, उसका मूल चेतना में है। सभी ज्ञान चेतना से उत्पन्न होता है। योग विद्या को लें। योग विद्या का सम्बन्ध अन्तर्जगत् से है। चेतना को अन्तर्जगत् में ले जायें तो अनेक प्रकार से अनुभव होंगे। पहले उन अनुभवों में से तीन अनुभवों को लें—

(१) एक अनुभव कुछ इस प्रकार का होगा—

एक काम में मन नहीं लगता। खाली नहीं बैठा जाता। सफलता हाथ नहीं लग रही। यह ठीक नहीं, कुछ और करें। हर काम अधूरा छूट जाता है। यहाँ भी शान्ति नहीं। कुछ न कुछ तो करना ही है। कहीं तृप्ति तो मिल नहीं रही। सब बेकार है। तनाव, चिड़चिड़ापन, किचकिच। यह प्रथम प्रकार के अनुभव का चित्रण है। हमने इसे ही ऊपर चित्तवृत्ति की क्षिप्त अवस्था बताया है। रजोगुणी व्यक्तियों के चित्त अर्थात् अन्तर्जगत् की यही अवस्था रहती है।

(२) एक दूसरे अनुभव का चित्र देखें—

फिर देखेंगे, अभी तो आराम करें। छोड़ें, क्या रखा है इस भागदौड़ी में। जो होना है हो जाएगा। अनुकूलता होने पर करेंगे, ऐसी जल्दी क्या है? कहीं से कुछ अच्छी खबर आए। लॉटरी ही निकल जाए, मेरे से तो होगा नहीं। दरिद्रता ही दरिद्रता। मूर्च्छा। महाआलस्य।

यह उस व्यक्ति की मनोदशा का चित्रण है जिसमें तमोगुण प्रधान है। इसे ही हमने ऊपर चित्त की मूढ़ अवस्था बताया है।

(३) तीसरी प्रकार की मनोदशा का चित्र कुछ ऐसा होगा—

देखें, इसे कैसे किया जाए? हाँ, यह तरीका है। तो फिर देर क्यों? मैं काम में लगा हूँ, डिस्टर्ब मत करो। क्षमा करें, अभी मैं पहले एक काम कर लूँ। हाँ काम हो तो रहा है। होगा क्यों नहीं। अहा! काम हो गया। सफलता, ज्ञान, धैर्य, निष्ठा, कार्यकुशलता, एकाग्रता।

यह चित्र उसके अन्तर्जगत् का है जो सत्त्व-प्रधान है। इसके कार्य ज्ञानपूर्वक स्थिर चित्त से होते हैं। यह संसार में सफल होता है। यद्यपि इस व्यक्ति में भी एकाग्रता है तथापि यह एकाग्रता लौकिक कार्यों

में ही सफलता प्रदान करती है, अभी अन्तर्जगत् की खोज चालू नहीं हुई।

अतः ये तीनों प्रकार के चित्रण सांसारिक व्यक्ति की चित्तवृत्ति के हैं, योगी की चित्तवृत्ति के नहीं।

(४) अब योग की चित्तवृत्ति की दशा का चित्र भी देखा जाए—

सत्य क्या है? मेरा स्वरूप क्या है ? जीवन की कृतकृत्यता किसमें है ? दुःख क्यों है? दुःख से छुटकारा कैसे हो? प्रश्नों पर जरा गहराई से सोचूँ? विचार नहीं, अनुभव चाहिए। अपने अन्दर झाँकूँ। साक्षात्कार करना है। अज्ञान का निवारण। यथार्थ का बोध, हल्कापन।

यह योग की प्रथम अवस्था है। इसे ही हमने ऊपर सम्प्रज्ञात समाधि कहा है। योगी क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म तक के अन्तर्जगत् तक अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्र करता है।

यह चित्तवृत्ति का चौथा रूप है। चित्तवृत्ति के प्रथम तीन रूप योग के अन्तर्गत नहीं आते, यह चतुर्थ प्रकार की चित्तवृत्ति की योग का प्रारम्भ बिन्दु है।

इसे एकाग्रता नाम दिया गया है। इस एकाग्रता का पर्यवसान वहाँ होता है जहाँ योगी अपने स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है। अब चित्तवृत्ति की आवश्यकता ही नहीं रहती। अतः चित्तवृत्ति का निरोध हो जाता है। यही वास्तविक योग है—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः**।

स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि योग विश्वास अथवा श्रद्धा का विषय नहीं है, अनुभव का विषय है। योग धर्म का प्रयोगात्मक रूप है। कोई भी योग में बतलाई प्रक्रिया से गुजर कर सत्य का स्वयं अनुभव कर सकता है। यह अनुभव सार्वभौम और सार्वकालिक है। इसलिये

योग सार्वभौम है। चित्त की स्थिति हम सबके अनुभव में आ ही रही है। अपूर्णता के बोध से पूर्णता के अनुभव तक जा सकते हैं। ऐसा करने की एक पद्धति है। उस पद्धति का नाम ही योग है। यह प्रयोग करके देखने की वस्तु है, किसी के कहने पर विश्वास करने की वस्तु नहीं।

जब साधक योग की प्रक्रिया से गुजरता है, तब वह असत् से सत् की ओर, मृत्यु से अमृत की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर प्रस्थान करता है। जैसे-जैसे हम महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्रों में से गुजरेंगे, योग की यह प्रक्रिया स्पष्ट होती चलेगी। इस प्रक्रिया की सार्थकता इसमें है कि हमें अपने में अन्तर्निहित दिव्यता का आभास होने लगे। यदि यह नहीं होता तो योग भी एक शब्दजाल ही होकर रह जाता है।

सूत्र—तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ १.३॥

अर्थ—तब (चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने पर) द्रष्टा की अपने रूप में अवस्थिति हो जाती है।

सूत्र—वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ १.४॥

अर्थ—अन्यथा (चित्तवृत्तियों के निरोध के अभाव में) (द्रष्टा की) चित्तवृत्ति के समान रूप वाली स्थिति रहती है।

व्याख्या

योग का प्रयोजन—यह प्रश्न बहुत रोचक ही नहीं, बहुत महत्त्वपूर्ण भी है कि हम कौन हैं? शास्त्रीय भाषा में कहा जाएगा कि हमारा स्वरूप क्या है? योग में यह प्रश्न इसलिए और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि योग का फल अपने स्वरूप में स्थित हो जाना बताया गया है—**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**

यह प्रश्न कि 'हमारा स्वरूप क्या है'—महत्त्वपूर्ण तो है किन्तु इसका समाधान सरल नहीं है। वस्तुतः इसका समाधान समाधि में ही होता है। फिर भी शास्त्रों ने इस प्रश्न की चर्चा की है। हम अपने से पूछें कि क्या हम कभी मरेंगे ? शास्त्रों ने हमें रटा भी दिया कि हम मरेंगे और हम सामान्य बुद्धि से जानते भी हैं कि जैसे सब मर रहे हैं उसी प्रकार एक न एक दिन हम भी मर जायेंगे। फिर भी अन्दर से प्रतीत नहीं होता कि हम मरेंगे। हम मरेंगे—यह एक ऊपरी सच्चाई है, गहरी सच्चाई यह है कि हम कभी नहीं मरेंगे। तो फिर मेरा स्वरूप ऐसा होना चाहिए जो कभी मरे नहीं। क्या मुझमें कुछ ऐसा है जो कभी न मरे? यह खोज ही तो अमृतत्त्व ही खोज है। अमृत कोई प्याले में भर कर पिया जा सके—ऐसा तरल पदार्थ नहीं है तो फिर यह अमृत की खोज क्या है ? अमृत कहीं बाहर नहीं है, मेरा अपना स्वरूप ही अमृत है। यदि मेरा अपना स्वरूप ही अमृत है तो फिर मुझे मिलता क्यों नहीं? कुछ बाधाएँ हैं। मेरा अपना स्वरूप सुरक्षित तो है, लेकिन अनावृत नहीं है। मेरा शरीर तो अनावृत ही है, सबको दिख रहा है। लेकिन शरीर तो मरता है। यदि मेरा स्वरूप अमर है, तो मैं शरीर नहीं हो सकता। एक और सत्य भी समझ लेने का है—जो बदलता है, वह मरता भी है। यदि अमर की खोज करनी है तो उसकी खोज करनी होगी जो बदलता न हो। इस एक ही नियम से मन, प्राण, बुद्धि सबका निराकरण हो जाता है। मन भी बदलता है—कभी सुखी, कभी दुःखी। प्राण भी—कभी बलवान् कभी निर्बल। बुद्धि भी—कभी मन्द, कभी तीव्र।

ढूँढ़ना वह तत्त्व है जो बदलता न हो। जिन्होंने खोजा उन्होंने पाया कि सब कुछ बदलता है केवल 'मैं' नहीं बदलता। योग शास्त्र ने दो नाम दिए—जो बदलता है वह सब प्रकृति है, जो नहीं बदलता वह पुरुष

है। 'मैं' पुरुष हूँ, प्रकृति नहीं। पुरुष और प्रकृति के लिए दो और शब्द आए—द्रष्टा और दृश्य। पुरुष द्रष्टा है, प्रकृति दृश्य है। मन, प्राण, बुद्धि—सब दृश्य हैं, द्रष्टा नहीं। जो बदलता है उसके बदलने को देखने वाला द्रष्टा है, जो स्वयं नहीं बदलता। यह द्रष्टा का भाव बदलता नहीं और मरता भी नहीं। यह द्रष्टा ही 'मैं' हूँ। यह द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाए—यह योग का चरम लक्ष्य है। जीवन का भी चरम लक्ष्य यही है।

द्रष्टा तो सदा अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है किन्तु चित्तवृत्ति दृश्यों में भटकती रहती है। चित्तवृत्ति की यह भटकन पुरुष में प्रतिबिम्बित हो जाती है। उदाहरण दिया गया कि स्फटिक मणि स्वयं धवल है किन्तु यदि उसके निकट लाल रंग का जपा कुसुम रखा हो तो उस जपा कुसुम की लालिमा उस स्फटिक मणि में प्रतिबिम्बित हो जाती है और वह स्फटिक मणि भी लाल नजर आने लगती है। यद्यपि वस्तुतः वह लाल हो नहीं जाती, अपितु धवल ही रहती है। उसी प्रकार पुरुष निर्विकार ही रहता है, किन्तु चित्त की जैसी वृत्ति होती है, वैसा ही पुरुष भी प्रतीति में आने लगता है।

जिसे चित्त कहा जा रहा है, वह प्रकृति का ही एक सूक्ष्म रूप है। प्रकृति के तीन गुण हैं—सत्त्व, रजस् और तम्स। सत्त्व का आधिक्य होने पर सुख, रजोगुण आधिक्य होने पर दुःख तथा तमोगुण का आधिक्य होने पर जडता होती है। अतः चित्तवृत्ति में कभी सुख, कभी दुःख तथा कभी जडता व्यक्त होती रहती है। चित्तवृत्ति के ये सुख, दुःख और जडता ही पुरुष में प्रतिबिम्बित हो जाते हैं। तब पुरुष अपने को सुखी, दुःखी अथवा जड या मूढ़ मानने लगता है। यह अज्ञानवश होता है, अन्यथा पुरुष में न सुख है, न दुःख, न मूढता। वह तो केवल शुद्ध चेतना

है। योग का प्रयोजन है कि पुरुष उसके अपने स्वरूप में अवस्थित करके उस अज्ञान का निराकरण कर दे, जिसके कारण पुरुष अपने को अपूर्ण, अशुद्ध, विकृत तथा मरणधर्मा मान बैठता है।

प्रश्न होता है कि हम यह कैसे जानें कि हमारा स्वरूप निर्विकार है। हमें तो सदा हम सुखी, दुःखी या मूढ ही प्रतीति में आते हैं। यह प्रतीति तब तक बनी रहेगी जब तक चित्तवृत्ति है। क्योंकि जब तक चित्तवृत्ति है, वह पुरुष में प्रतिबिम्बित होती रहेगी और चित्तवृत्ति तो प्रकृति-रूप होने के कारण सदा सुखी, दुःखी या मूढ बनी ही रहेगी। चित्तवृत्ति का निरोध हो तो वह पुरुष में प्रतिबिम्बित होनी बन्द हो और पुरुष का अपना वास्तविक स्वरूप प्रतीति में आए। प्रश्न होता है कि चित्तवृत्ति का निरोध हो तो स्वरूप का बोध हो और स्वरूप का बोध हो तो चित्तवृत्ति का निरोध हो। हाथ के कंकर तब ही फेंके जा सकते हैं, जब कहीं गिरे हुए रत्न दिखाई दे रहे हों? फिर चित्तवृत्ति का निरोध पहले होगा या स्वरूप का बोध पहले होगा? यह प्रश्न ऐसा ही है कि अँधेरा पहले जाएगा या प्रकाश पहले आएगा? अँधेरे का जाना और प्रकाश का आना दो युगपत् होते हैं। उनमें पूर्वापर भाव—पहले पीछे का प्रश्न—नहीं है। जैसे-जैसे चित्त वृत्ति का निरोध होता है, स्वरूप वैसे-वैसे ही स्पष्ट होता जाता है। जब चित्तवृत्ति का पूर्ण निरोध हो जाता है, तब स्वरूप का पूर्ण बोध हो जाता है। जहाँ पूर्णता है, वहाँ असम्प्रज्ञात समाधि है, जहाँ तक अपूर्णता है, वहाँ तक सम्प्रज्ञात समाधि है। सम्प्रज्ञात समाधि असम्प्रज्ञात समाधि का साधन बन जाती है।

सम्प्रज्ञात समाधि में जो चित्तवृत्ति रहती है, वह एकाग्र होती है। इस एकाग्र चित्तवृत्ति की चरम परिणति यह है कि हम जान लेते हैं कि पुरुष पृथक् है, प्रकृति पृथक् है। यह पुरुष और प्रकृति की पृथक्ता का

ज्ञान विवेक-ख्याति कहलाता है। विवेक-ख्याति भी एक चित्तवृत्ति है किन्तु यह अन्य चित्तवृत्तियों को शान्त कर देती है। अपना काम कर देने पर यह विवेक-ख्याति भी निवृत्त हो जाती है। सुई से सब काँटे निकाल देने पर हम सुई को शरीर में चुभाए नहीं रहते, सुई को भी निकाल देते हैं। विवेक-ख्याति की चित्तवृत्ति गई तो असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है। उस समय द्वैत नहीं रहता कि यह द्रष्टा है, यह दृश्य है। यह स्थिति अनुभवैकगम्य है, शब्दातीत है। शब्द की गति तो वहीं तक है, जहाँ तक चित्तवृत्ति है।

योग-शास्त्र अव्यावहारिक नहीं है। वह जानता है कि पुरुष चित्तवृत्ति का विषय नहीं है। किन्तु प्रकृति चित्तवृत्ति का विषय है, अत: प्रकृति पर चित्तवृत्ति को केन्द्रित किया जा सकता है। जैसे-जैसे हम प्रकृति के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप पर चित्तवृत्ति को एकाग्र करते हैं, प्रकृति के रहस्य उद्‌घाटित होते चले जाते हैं। इस कारण योगी प्रकृति पर विजय पा लेता है। इस प्रकार उसे अनेक अलौकिक शक्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। किन्तु ये सब अलौकिक शक्तियाँ प्रकृति की हैं, पुरुष की नहीं। योगी को अपने पुरुष-स्वरूप में अवस्थित होने का लक्ष्य लेकर चलना है। अत: उसे प्रकृति की इन अलौकिक शक्तियों से उलझ कर नहीं रह जाना चाहिए।

महर्षि पतञ्जलि ने बड़ी कुशलता से चित्तवृत्ति की एकाग्रता को योग का लक्षण नहीं कहा। चित्तवृत्ति की एकाग्रता योग का गौण लक्षण है, योग का मुख्य लक्षण तो चित्तवृत्ति का निरोध ही है। चित्तवृत्ति की एकाग्रता से प्राप्त होने वाली शक्तियाँ भी आनुषङ्गिक ही हैं, मुख्य फल तो स्वरूप में स्थित होना ही है क्योंकि स्वरूप में स्थित हुए बिना दु:खों का अन्त नहीं हो सकता।

योग में साधक के मार्ग-दर्शन के लिए आठ उपायों का वर्णन है जिसे अष्टाङ्ग का योग कहते हैं। ये आठ उपाय भी दो भागों में विभक्त हैं—बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग। बहिरङ्गों में प्रथम उपाय है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का पालन। ये यम कहलाते हैं। शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान—ये नियम हैं। शेष उपायों का वर्णन स्वयं पतञ्जलि क्रमश: बाद में यथास्थान करेंगे। अब इन दो उपायों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम चित्तवृत्ति का उपयोग किस दिशा में करें और किस दिशा में न करें। यम के अन्तर्गत वे बिन्दु बताए गए हैं जिधर चित्तवृत्ति को नहीं जाने देना चाहिए—हिंसा, झूठ, चोरी, वासना और सुख की लोलुपता से बचना चाहिए। यह योग की प्रथम शिक्षा है, जो साधक के जीवन को निर्मल तथा प्रशस्त बनाती है। नियम विधायक है। इनमें तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान को पतञ्जलि ने क्रियायोग नाम दिया है। इनसे समाधि में सहायता मिलती है और अज्ञानादि क्लेश निर्बल होते हैं।

शौच में केवल बाहरी शुद्धि को ही नहीं लेना चाहिए, हमारी आजीविका का साधन भी शुद्ध होना चाहिए। सन्तोष का अर्थ है अपने कर्त्तव्य का पालन करना, फिर जो भी फल हो उसी में सन्तुष्ट रहना। फल को भगवान् पर छोड़ देना ईश्वर-प्रणिधान है। इन्द्रियों पर संयम का अभ्यास तप है। इन्द्रियाँ ही अपने-अपने विषयों के प्रति लोलुपता-वश चित्तवृत्ति को चंचल बनाये रहती हैं। जिसका इन्द्रियों पर वश नहीं है, वह कभी कोई बड़ा काम कर ही नहीं सकता। जब तक दृष्टा अर्थात् पुरुष अपने स्वरूप में चित्तवृत्ति के निरोध द्वारा अवस्थित होता है तब तक द्रष्टा जैसी चित्तवृत्ति होती है वैसी ही स्वयं भी मानो बना रहता है अर्थात् पुरुष वस्तुत: रहता तो सदा अपने ही स्वरूप में है किन्तु चित्तवृत्ति

जब तक निरुद्ध न हो तब तक ऐसा प्रतीत होता है कि जैसी चित्तवृत्ति है वैसा ही मैं स्वयं भी हूँ, चित्तवृत्ति सुखी तो मैं सुखी, चित्तवृत्ति दु:खी तो मैं दु:खी, चित्तवृत्ति मूढ़ तो मैं भी मूढ़।

इन सब विषयों का विस्तार पतञ्जलि स्वयं करेंगे। हमने संक्षेप में बताने का प्रयत्न किया है कि योग के अभ्यास करने के इच्छुक व्यक्ति का जीवन नैतिकता और संयम का जीवन होना चाहिए। यदि जीवन में संयम नहीं है और अनैतिकता की प्रवृत्ति है तो गहरे श्वास लेना अथवा शीर्षासन करना व्यायाम भले ही हो, वह योग नहीं है। व्यायाम का फल शरीर का पुष्ट होना ही है, चित्त की शान्ति नहीं है। किन्तु यम, नियम के साथ आसन प्राणायामादि किए जायें तो वे शरीर स्वस्थ बनाने के साथ मन को शान्ति भी प्रदान करते हैं।

सूत्र—वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः॥ १.५॥

अर्थ—पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियाँ—अविद्यादि क्लेश उत्पन्न करने वाली तथा क्लेशों का नाश करने वाली—अर्थात् दो प्रकार की होती हैं।

सूत्र—प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः॥ १.६॥

अर्थ—पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

व्याख्या

चित्तवृत्तियों के भेद—साधक के सामने एक कठिनाई यह है कि चित्तवृत्तियाँ अनेक हैं। जब उससे चित्तवृत्ति का निरोध करने की बात कही जाती है, तो वह किस-किस चित्तवृत्ति का निरोध करे। रात-दिन हम में चित्तवृत्तियाँ ही तो काम करती रहती हैं। विचार अनन्त हैं। विचारों के माध्यम से ही हमें ज्ञान होता रहता है—कभी वह ज्ञान ठीक

होता है कभी गलत, कभी हम ऐसी कल्पनाओं में भी झूलते हैं जिनका वास्तविकता से कोई संबंध ही नहीं होता, कभी हम नींद की गोद में आराम की मुद्रा में होते हैं तो कभी कड़वी-मीठी स्मृतियों में खोये रहते हैं। इसी आधार पर महर्षि पतञ्जलि ने चित्तवृत्तियों को पाँच भागों में बाँट दिया। ये पाँच प्रकार की चित्तवृत्तियाँ भी कभी अविद्यादि दु:ख के कारणों को बढ़ाने वाली होती हैं और कभी अविद्यादि को कम करने वाली होती हैं—**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।**

यूँ तो सभी चित्तवृत्तियाँ पुरुष के स्वरूप में स्थित होने में बाधक हैं, किन्तु सभी चित्तवृत्तियाँ योग की प्रारम्भिक अवस्था में हेय नहीं हैं। उदाहरणत: हम योगसूत्र का अध्ययन कर रहे हैं। इस अध्ययन के समय में हमारी चित्तवृत्ति ही काम कर रही है किन्तु यह चित्तवृत्ति स्वयं योग-रूप न होकर हमें योग के निकट ले जा सकती है। अत: यह चित्तवृत्ति अविद्यादि को क्षीण करने के कारण अक्लिष्ट कही जाएगी। किन्तु यदि यही अध्ययन इस विवाद का हेतु बन जाए कि मेरी योग की व्याख्या सही है और अमुक की योग की व्याख्या गलत है, तो फिर हमारा योग का अध्ययन भी राग-द्वेष को बढ़ाने वाला होने के कारण क्लिष्ट हो जाएगा। इस प्रकार चित्तवृत्ति हमें मोक्ष के निकट भी ले जा सकती है और बंधन में भी डाल सकती है। मध्य युग में इस देश के अनेक दार्शनिक चर्चा तो मोक्ष की कर रहे थे, किन्तु वे स्वमत के मण्डन और परमत के खण्डन में ऐसे डूब गए कि लगता कि वे सत्य का प्रतिपादन करने की अपेक्षा अपने अहङ्कार का पोषण करने को अधिक उत्सुक हैं। इस कारण जिज्ञासु साधक ऐसे साहित्य के प्रति विरक्ति के भाव से भर जाता है जिसमें तर्क-वितर्क का जाल इतना जटिल हो गया है कि सत्य छिप ही जाता है।

अभिप्राय यह है कि हम एकदम निर्विचारता में नहीं जा सकते, अतः विचार-विमर्श तो करेंगे किन्तु हमारा विचार-विमर्श यदि राग, द्वेष, अहङ्कार और अभिनिवेश को बढ़ाने वाला ही हुआ तो यह विचार-विमर्श अविद्या को कम करने की जगह अविद्या को बढ़ाएगा। दूसरी ओर निद्रा को लें। निद्रा भी एक चित्तवृत्ति है। प्रायः निद्रा को तमोगुणी वृत्ति माना जाता है, किन्तु सभी निद्रा तमोगुणी नहीं होती। विश्राम भी शरीर की एक आवश्यकता है। यदि नींद के बाद हमें हल्केपन और स्फूर्ति का अनुभव हो तो समझना चाहिए कि हमारी निद्रा भी अज्ञान को दूर करने में सहायक होकर अक्लिष्ट ही कहलाएगी।

निद्रा के अतिरिक्त चार चित्तवृत्तियाँ और हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और स्मृति।

प्रमाण नामक चित्तवृत्ति पदार्थ का यथार्थ बोध कराती है, जबकि विपर्यय में पदार्थ का विपरीत ज्ञान होता है। यदि हमें रस्सी रस्सी ही ज्ञात हो रही है तो हमारी चित्तवृत्ति प्रमाण है किन्तु यदि हमें रस्सी साँप दिखे तो हमारी चित्तवृत्ति विपर्यय है। एक तीसरे प्रकार का भी ज्ञान होता है जो प्रमाण न होने पर भी विपर्यय भी नहीं कहला सकता। उदाहरणतः हम कहते हैं कि 'पुरुष का चैतन्य'। अब वस्तुतः पुरुष और चैतन्य कोई दो पदार्थ नहीं हैं, चैतन्य का ही नाम पुरुष है। फिर भी हम कहते हैं—'पुरुष का चैतन्य'। यह कहते समय ऐसा नहीं है कि हमें यह ज्ञात न हो कि पुरुष और चैतन्य में अभेद है, फिर भी हम उनमें भेद आरोपित कर लेते हैं। 'पुरुष का चैतन्य' कहते समय पुरुष और चैतन्य का वह सम्बन्ध नहीं है जो 'देवदत्त का कम्बल' कहते समय देवदत्त और कम्बल का है। इस प्रकार 'पुरुष का चैतन्य' यह वाक्यांश शब्दशः तो

पुरुष और चैतन्य में भेद कर रहा है किन्तु वस्तु में वैसा भेद है नहीं। ऐसे ज्ञान को हम विकल्प कहते हैं—**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यः विकल्पः।** इसके विपरीत जहाँ हमारा ज्ञान वस्तुतः वैसा ही होता है, जैसी वस्तु है, वहाँ प्रमाण नाम की चित्तवृत्ति रहती है। विपर्यय में वस्तु के स्वरूप में विपरीत ज्ञान होता है—**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम्।** यह विपर्यय ही समस्त अनर्थ की जड़ है। इसे अविद्या भी कहा जाता है। सीप को चाँदी समझना विपर्यय का सामान्य उदाहरण है। किन्तु यह विपर्यय वास्तविक अनर्थ की जड़ नहीं है। वास्तविक अनर्थ की जड़ है अनित्य को नित्य मान लेना, अपवित्र को पवित्र मान लेना, दुःख को सुख मान लेना और अनात्मा को आत्मा मान लेना। यही वास्तविक अविद्या है। संसार की सारी सम्पदा मृत्यु के समय हम से छूट जाएगी। किन्तु हम समझ रहे हैं कि यह सदा हमारी बनी रहेगी। यह विपर्यय है। इस विषय का थोड़ा विस्तार हम तत्तद् सूत्र की व्याख्या में और भी करेंगे।

सूत्र—प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ १.७॥

अर्थ—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं।

व्याख्या

चित्तवृत्तियों का उपयोग—विपर्यय को दूर करने में प्रमाण सहायक होता है। वस्तुतः प्रमाण का बहुत महत्त्व है। न्याय-दर्शन जैसे दर्शन प्रमाण को केन्द्र में रखकर विस्तृत चर्चा करते हैं। जब चित्तवृत्ति प्रमाण रूप होती है तो वह यथार्थ बोध कराती है। कुछ अतीन्द्रिय सम्पन्न योगियों को छोड़ दें तो सामान्य व्यक्ति को जो यथार्थ ज्ञान होता है वह प्रमाण द्वारा ही होता है।

अतीन्द्रिय ज्ञान भी प्रमाण ही है, बल्कि वह सब प्रमाणों से अधिक बलवान् प्रमाण है, किन्तु वह इन्द्रियों के माध्यम से नहीं होता। अत: इसे प्रत्यक्ष प्रमाण के अन्तर्गत प्राय: नहीं माना जाता, किन्तु न्याय-दर्शन में उसे योगज प्रत्यक्ष कहा जाता है और जैन-दर्शन तो उसे ही मुख्य प्रत्यक्ष मानता है। योगज प्रत्यक्ष द्वारा जिन सत्यों का साक्षात्कार किया गया वे आगमों में संगृहीत हैं। हमें कुछ ज्ञान प्रत्यक्ष द्वारा न होकर अनुमान द्वारा होते हैं। इस प्रकार प्रमाण तीन हो जाते हैं—प्रत्यक्षानुमानागमा: प्रमाणानि। प्रत्यक्ष द्वारा गृहीत वही ज्ञान प्रमाण माना जाता है जो बाद में बाधित न हो जाए। इसलिए पीतरोग से ग्रस्त व्यक्ति को जो शङ्ख भी पीला दिखता है उसका वह ज्ञान प्रमाण नहीं है क्योंकि रोग ठीक हो जाने पर उसे स्वयं को ही वह शङ्ख सफेद दिखाई दे जाता है।

प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का सामान्य ज्ञान ही नहीं होता अपितु विशेष ज्ञान भी हो जाता है। यह प्रत्यक्ष की अनुमान की अपेक्षा विशेषता है। तथापि अनुमान प्रमाण का बहुत महत्त्व है। प्रत्यक्ष केवल स्थूल का होता है, सूक्ष्म का तो अनुमान ही किया जाता है। आज वैज्ञानिक व्यक्त की बात 'एक्सप्लिसिट ऑर्डर' नाम से और अव्यक्त की चर्चा 'इम्प्लिसिट ऑर्डर' के नाम से करते हैं। इनमें व्यक्त प्रत्यक्षगोचर है, अव्यक्त का अनुमान किया जाता है। तथापि क्योंकि अनुमान सामान्य ज्ञान ही करा पाता है, विशेष नहीं, अत: अव्यक्त के विशेष ज्ञान के लिए योग की आवश्यकता रहती है क्योंकि योग अव्यक्त का भी प्रत्यक्ष करा देता है। योगियों द्वारा जिस सूक्ष्म सत्य का साक्षात्कार किया गया उसकी अभिव्यक्ति उन्होंने जिन शब्दों में की वे शब्द आगम कहलाते हैं और वे भी प्रमाण माने जाते हैं।

अनुमान में किसी हेतु द्वारा, जो कि प्रत्यक्ष होता है, किसी सूक्ष्म पदार्थ को जाना जाता है। हमें धूम प्रत्यक्ष होता है तो उसके द्वारा हम उस अग्नि का अनुमान कर लेते हैं जो हम से दूर होने के कारण हमें प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम प्रमाणों द्वारा ही सामान्यत: हम सत्य को जानते हैं। अत: पाँचों चित्तवृत्तियों में प्रथम स्थान प्रमाण को दिया जाता है।

योग में निद्रा को भी एक चित्त वृत्ति माना गया है। निद्रा में हमें अभाव का ज्ञान होता है—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। हम नींद से उठने के बाद कहते हैं कि 'मुझे तो नींद में कुछ पता ही नहीं चला।' 'कुछ पता ही नहीं चला' यह कहना ज्ञान के अभाव का सूचक है। पर निद्रा में इस अभाव का पता रहता है। अत: निद्रा भी एक वृत्ति है। हम यह भी कहते हैं कि 'मैं बड़े आराम की नींद सोया'। यदि नींद में चित्तवृत्ति होती ही नहीं तो जागने पर हमें यह पता भी कैसे चल जाता कि हमारी नींद आराम की थी या नहीं?

हमारी चित्तवृत्ति सदा वर्तमान में ही नहीं रहती, पुरानी बातों को याद भी किया करती है। हमारा जो अनुभव हमें याद आ जाता है, वह स्मृति चित्तवृत्ति का काम है—**अनुभूतविषयासम्प्रमोष: स्मृति:।**

इस प्रकार चित्तवृत्तियों के भेदोपभेदों का वर्णन करके पतञ्जलि महर्षि ने हमारे अन्तर्जगत् का परिचय करा दिया। जब तक हम समाधि में न चले जाएँ हम उपर्युक्त पाँच चित्तवृत्तियों में से किसी न किसी एक चित्तवृत्ति में उलझे रहते हैं।

ऐसी स्थिति में चित्तवृत्तियों का उपयोग इस प्रकार का होना चाहिए कि वे अविद्या को क्षीण करें, न कि अविद्या को बढ़ाएँ। इस बात की सावधानी प्रत्येक चित्तवृत्ति के उपयोग में रखनी चाहिए।

प्रमाणों की सीमा—हमें प्रायः अपनी इन्द्रियों पर बहुत भरोसा होता है। सांख्य-योग इन्द्रियों द्वारा होने वाले ज्ञान को धोखा अथवा माया नहीं मानते। तथापि इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान ही सब कुछ है—ऐसा दुराग्रह हमें सत्य के उस पक्ष से वञ्चित कर देता है जो पक्ष इन्द्रियगोचर नहीं है, तथापि सत्य है। यदि ऐसा न होता तो वैज्ञानिक की प्रयोगशाला ही पर्याप्त थी, योग की आवश्यकता ही नहीं थी।

अनुमान-प्रमाण के आधार पर ही सारा दार्शनिक विवाद का महल खड़ा है फिर भी आज तक यह निर्णय नहीं हो पाया कि कौन ठीक है और कौन गलत है। तर्क से दोनों पक्ष ठीक सिद्ध किये जा सकते हैं इसलिए तर्क के आधार पर सत्य का निर्णय कर लेने की आशा नहीं करनी चाहिए। जैसे प्रत्यक्ष की एक सीमा है, तर्क की भी एक सीमा है।

आगम प्रमाण सर्वोपरि है, क्योंकि उसमें आप्त पुरुषों के वचन संगृहीत हैं। तथापि आगम की भी सीमा है। सत्य का साक्षात्कार किया जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है किन्तु उस सत्य को पूर्णतः कहा नहीं जा सकता। ऐसे में आगम भी हम तक पूर्ण सत्य को कैसे पहुँचा सकता है?

सूत्र—विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ १.८॥

अर्थ—विपर्यय मिथ्या ज्ञान है अर्थात् जो ज्ञान उस (पदार्थ) के स्वरूप पर नहीं टिका है।

व्याख्या

चित्तवृत्ति को अपने विषय के आकार में ही परिणत होना चाहिये किन्तु यदि वह विषय से भिन्न आकार से परिणत हो जाये तो वह विपर्यय कहलाता है। उदाहरण—सीप में चाँदी का अथवा रज्जू में सर्प का ज्ञान विपर्यय है।

चित्तवृत्ति का स्वभाव विषय के आकार में ढल जाने का है। किन्तु किसी दोष के कारण ऐसा न होने पर विपर्यय होता है। संशय को भी यहाँ विपर्यय के ही अन्तर्गत मान लिया गया है।

यह विपर्यय ही अविद्या है जिससे अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश के संस्कार बनते हैं, जिन्हें पतञ्जलि क्लेश कहते हैं। अविद्या चित्तवृत्ति है तथा उससे उत्पन्न होने वाले संस्कार क्लेश हैं।

एक रोचक प्रश्न यह है कि पतञ्जलि ने सभी चित्तवृत्तियों को अक्लिष्ट भी माना है तो विपर्यय अक्लिष्ट किस प्रकार हो सकता है? उत्तर यह है कि कोई जगत् को मिथ्या मानता है तो उसका यह मानना यद्यपि विपर्यय है क्योंकि योगदर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है तथापि यह विपर्यय भी यदि साधक को जगत् से विमुख करके आत्मोन्मुख बना दे तो इस विपर्यय को भी अक्लिष्ट माना जायेगा।

सूत्र—शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ १.९॥

अर्थ—विकल्प ऐसा ज्ञान है जिसके लिये वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती किन्तु जो शब्द का अनुगामी अर्थात् शब्द का अनुसरण करने वाला है।

व्याख्या

कभी-कभी हम ऐसी भाषा का प्रयोग करते हैं कि उस भाषा के अनुरूप पदार्थ नहीं होते। उदाहरणतः हम कहते हैं—'पुरुष का चैतन्य'

अब यहाँ चैतन्य ही वस्तुतः पुरुष है, अतः 'पुरुष का चैतन्य' कहना उस प्रकार से उचित नहीं होगा जिस प्रकार 'पुरुष का घोड़ा' कहना। पुरुष और घोड़ा दो भिन्न पदार्थ हैं जिनमें घोड़ों पर पुरुष का स्वामित्व दिखाने के लिए यह कहा जाता है कि घोड़ा पुरुष का है किन्तु पुरुष और चैतन्य कोई दो पदार्थ नहीं हैं जिनमें स्व-स्वामी सम्बन्ध बताया जाये। अतः यह प्रयोग शब्दानुगामी तो है किन्तु वस्तुशून्य है। इसे ही विकल्प कहा जाता है।

यह विकल्प विपर्यय से भिन्न है क्योंकि 'पुरुष का चैतन्य' कहने वाला भी यह जानता है कि पुरुष और चैतन्य भिन्न नहीं हैं। अतः उसे मिथ्याज्ञान नहीं है।

सूत्र—अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १.१०॥

अर्थ—अभाव के ज्ञान पर अवलम्बित वृत्ति निद्रा है।

व्याख्या

जब जागृत अवस्था तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के अभाव की प्रतीति होती है, तब निद्रा वृत्ति होती है। तमोगुण के द्वारा सत्त्व तथा रजस् के अभिभूत हो जाने पर जागृत तथा स्वप्न की वृत्तियाँ दब जाती हैं। तथापि उस समय भी रजोगुण तथा सत्त्वगुण का किञ्चिद् अंश बना रहता है जिसके कारण रजोगुण की प्रधानता होने पर यह बोध होता है कि 'मैं ठीक से नींद नहीं ले पाया, अतः सिर भारी हो रहा है।' किन्तु सत्त्वगुण की प्रधानता होने पर 'मुझे बहुत अच्छी नींद आयी, सारी थकावट दूर हो गयी' ऐसा बोध होता है। इस प्रकार की स्मृति होना ही इस बात का सूचक है कि निद्रा भी एक चित्तवृत्ति है, वृत्ति का अभाव नहीं।

सूत्र—अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः॥ १.११॥

अर्थ—अनुभूत विषय का छिप न जाना स्मृति है।

व्याख्या

अनुभूत का अर्थ है पहले से जाना हुआ। पहले से जाने हुए विषय का एक संस्कार चित्त पर पड़ता है। आवश्यकता पड़ने पर कालान्तर में उस संस्कार द्वारा वह विषय पुनः ज्ञात हो जाता है। यही स्मृति है। यह अनुभव प्रमाण, विपर्यय, विकल्प तथा निद्रा में भी प्राप्त हो सकता है। स्मृति में अनुभूत विषय पूरा भी आ सकता है अथवा उसका कुछ अंश मात्र भी आ सकता है।

इस प्रकार चित्तवृत्तियों के भेदोपभेदों का वर्णन करके पतञ्जलि महर्षि ने हमारे अन्तर्जगत् का परिचय करा दिया। जब तक हम समाधि में न चले जायें, हम उपर्युक्त पाँच चित्तवृत्तियों में से किसी न किसी एक चित्तवृत्ति में उलझे रहते हैं।

ऐसी स्थिति में चित्तवृत्तियों का उपयोग इस प्रकार का होना चाहिए कि वे अविद्या को क्षीण करें, न कि अविद्या को बढ़ाएँ। इस बात को सावधानी प्रत्येक चित्तवृत्ति के उपयोग में रखनी चाहिए।

सूत्र—अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १.१२॥

अर्थ—अभ्यास और वैराग्य से उन (चित्तवृत्तियों) का निरोध होता है।

सूत्र—तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १.१३॥

अर्थ—उन (अभ्यास और वैराग्य) में से (चित्त की) स्थिति में यत्न करना अभ्यास है।

सूत्र—स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १.१४ ॥

अर्थ—वह (अभ्यास) बहुत काल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक अनुष्ठित होने पर सुदृढ़ हो जाता है।

व्याख्या

योग चित्तवृत्तियों के निरोध का नाम है किन्तु चित्तवृत्तियाँ निरोध का प्रयत्न करने पर भी निरुद्ध होती नहीं—यह सामान्य व्यक्ति के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय है। सामान्य भाषा में कहें तो कहना चाहिए कि विचारों का कोलाहल सदा चलता ही रहता है, कभी शान्त नहीं होता। कई बार तो हम विचारों के इस प्रवाह से बहुत परेशान हो जाते हैं। रात को सोने के समय शय्या पर लेट जाते हैं किन्तु विचारों का प्रवाह थमता ही नहीं और नींद ही नहीं आ पाती। तब नींद की गोली खानी पड़ती है। विचारों पर इस अनियन्त्रण की यह स्थिति है कि एक साधक अपने को बहुत असहाय अनुभव करता है।

महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि चित्तवृत्ति के निरोध के दो उपाय हैं—अभ्यास और वैराग्य—**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।** हमारी चित्तवृत्ति राग के कारण चलायमान है। जो विचार अनावश्यक होते हुए भी हमारे अन्दर चलते रहते हैं उन विचारों का केन्द्र बिन्दु है—'मैं' और 'मेरा'। जो विचार हमारे अन्दर चल रहे हैं उनमें से यदि 'मैं' और 'मेरा' को निकाल दिया जाए जो सारे विचार स्वयं ही गिर जायेंगे। 'मैं' हट गया तो विचार करेगा ही कौन? और यदि 'मेरा' नहीं रहा तो विचार करेगा किसके बारे में ? अनादिकाल से ये 'मैं' और 'मेरा' चल रहे हैं इसलिए विचार भी चल रहे हैं।

विचार करना हमारा अभ्यास बन गया है। जिस चीज का अभ्यास हो जाता है वह सरल लगती है, जिसका अभ्यास न हो वह सरल होने पर कठिन हो जाती है। हमें विचारों का अभ्यास है, अतः विचार चलते रहें तो हमें आसानी महसूस होती है। हमें निर्विचारता का अभ्यास नहीं है। अतः निर्विचारता में टिकना चाहें तो निर्विचारता में एक-दो मिनट भी रहना दूभर हो जाता है। निर्विचारता का यत्नपूर्वक अभ्यास करना होगा—**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।** अभ्यास की अद्‌भुत महिमा है। अभ्यास से कठिन भी सरल हो जाता है।

निर्विचारता हमें कठिन लगती है क्योंकि हमारा अभ्यास विचारों में विचरण करने का है। हम जानते हैं कि ये विचार जो बिना बुलाए मेहमान की तरह आ धमकते हैं, व्यर्थ ही हमारी शक्ति और समय का अपव्यय कर रहे हैं। ये विचार केवल ख्याली पुलाव हैं, जो कभी किसी काम नहीं आते। 'ऐसा होगा तो ऐसा करूँगा, ऐसा होगा तो ऐसा'—इस प्रकार के विकल्प अहर्निश सदा चलते रहते हैं। इन विकल्पों का कोई लाभ मुझे नहीं, लेकिन मन इन विकल्पों के सहारे ही जिन्दा रहता है। विकल्प न हों तो मन मर जाए। वस्तुतः मन कोई पदार्थ नहीं है, मनन का नाम ही मन है। मनन नहीं तो मन नहीं। अब मन अपने बचाव के लिए हमारे विचारों को रोकने के प्रयत्न का विरोध करे, तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। भला मन मरना क्यों चाहेगा?

कठिनाई यह है कि मन की मृत्यु को हम अपनी मृत्यु समझ बैठे हैं। हमने मन से अपना तादात्म्य सम्बन्ध जोड़ लिया है। अतः हम भी मन का साथ देते हैं—कोई न कोई विकल्प चलाए रखते हैं। यह विकल्प ही हमारे और सत्य के बीच व्यवधान बन जाता है। विकल्प हमने पैदा किया है, वह सत्य का अङ्ग नहीं है। जैसे ही विकल्प हटता

है, सत्य ही शेष रह जाता है। वह सत्य अखण्ड है। मन कभी अखण्ड को नहीं देख पाता, वह सदा खण्ड-खण्ड करके ही देखा जाता है। खण्डित दृष्टि अज्ञान है, वही दु:ख है। अखण्ड दृष्टि ही सत्य है, वही दु:ख का अभाव है। 'मैं' और 'मेरा' अर्थात् अहंकार और ममत्व ही चित्त की चञ्चलता का भोजन है। वैराग्य अहङ्कार तथा ममत्व के छूट जाने का नाम है। अहङ्कार और ममत्व छूटा तो चित्त की चञ्चलता स्वयं ही विलीन हो जाएगी।

कठिनाई यह है कि हमारी चञ्चलता का अभ्यास अनादिकाल से निरन्तर चलता आ रहा है। लगता है विचार बहुमूल्य है। यदि निर्विचारता का अभ्यास करना हो तो विचार के अभ्यास के समान ही उस अभ्यास को भी दीर्घकाल तक निरन्तर बहुमानपूर्वक ही करना होगा—**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि:।** तभी वह अभ्यास सुदृढ़ होगा। अभ्यास के सुदृढ़ होने पर निर्विचारता में स्थित रहना सरल हो जाएगा। उस अभ्यास का क्रम आगे चलकर साधनपाद में अष्टाङ्गयोग के रूप में पतञ्जलि स्वयं ही बतलायेंगे। किन्तु अभी समाधिपाद में अभ्यास के अनन्तर वैराग्य का निरूपण करना आवश्यक है क्योंकि वैराग्य के बिना न अहङ्कार छूटता है न ममत्व और अहङ्कार तथा ममत्व छोड़े बिना चित्त की चञ्चलता से भी छुटकारा नहीं मिल सकता।

सूत्र—दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १.१५॥

अर्थ—प्रत्यक्षगोचर तथा शास्त्रनिर्दिष्ट विषयों के प्रति वितृष्णा वशीकार संज्ञक वैराग्य है।

सूत्र—तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १.१६॥

अर्थ—(प्रकृति) पुरुष के (विवेक) ज्ञान से (तीन) गुणों के प्रति वितृष्णा की परवैराग्य संज्ञा है।

व्याख्या

वैराग्य—धर्म के दो रूप हैं। एक धर्म अभ्युदयकारी है, धर्म का दूसरा रूप मोक्षलक्षी है। इहलौकिक तथा लौकिक सुखों की प्राप्ति अभ्यदुय है। ये सुख कर्त्तव्यों के पालन से प्राप्त होते हैं। हमारा क्या कर्त्तव्य है—यह ज्ञान शास्त्र से होता है। दूसरी ओर मोक्ष की प्राप्ति का साधन ज्ञान है। ज्ञान का अर्थ शास्त्रों के वाक्यों का अर्थज्ञान नहीं है, ज्ञान का अर्थ सत्य का साक्षात्कार है। सत्य के साक्षात्कार का उपाय योगशास्त्र में बताया गया है। जब तक साधक में इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की इच्छा है तब तक वह शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान तो भले ही करता रहे किन्तु योग का मार्ग उसके लिए दुर्लभ ही है। इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों की इच्छा का समाप्त हो जाना ही वैराग्य है। सुख की इच्छा अवश्य स्वाभाविक है, किन्तु सुख कहाँ है—इस सम्बन्ध में हमें प्राय: मतिभ्रम होता है। इस मतिभ्रम को विवेक द्वारा समाप्त किया जा सकता है। संक्षेप में जानना चाहिए कि सुख पदार्थ में नहीं, सुख का स्रोत हमारे अन्दर है, बाहर के जड पदार्थों में नहीं—यह विवेक हमें इस लोक और परलोक के पदार्थों के प्रति उदासीन बना देता है। यही वैराग्य है। इस वैराग्य के होने पर चित्तवृत्ति की चञ्चलता स्वयं ही विलीन हो जाती है। चित्तवृत्ति पदार्थों में ही तो भटकती है।

वैराग्य माध्यस्थ भाव है, द्वेषभाव नहीं। पदार्थ हो या न हो—मेरे सुख में अन्तर नहीं आता है—यह दृष्टि मध्यस्थता की है। पदार्थ होने

चाहिए—यह राग है। पदार्थ नहीं होने चाहिए—यह द्वेष है। राग भी भटकाता है, द्वेष भी भटकाता है। भटकन से छुटकारा माध्यस्थ भाव में ही है। यदि हम वैराग्य का अर्थ यह मान लेंगे कि हमारे लिए पदार्थ की आवश्यकता नहीं है तो हमारे व्यवहार में एक पाखण्ड का प्रवेश हो जाएगा। ऋजुमार्ग यह है कि हम इस सत्य को जानें कि शरीरधारी की आवश्यकताएँ पदार्थ के बिना पूरी नहीं हो सकतीं, किन्तु साथ ही यह भी जानें कि आनंद का स्रोत हमारे अन्दर है, बाहर नहीं। ऐसे में हम अपनी आवश्यकता पदार्थ से पूरी करेंगे किन्तु पदार्थ में आनन्द नहीं ढूँढेंगे, आनन्द अपने अन्दर ढूँढेंगे। वैराग्य का अर्थ यह नहीं है कि हम भोजन करना छोड़ दें, वैराग्य का अर्थ यह है कि हम भोजन में आनंद खोजना छोड़ दें। आनंद के आन्तरिक केन्द्र से जुड़ने पर पदार्थ का न मिलना भी दु:ख नहीं दे पाता। सबसे बड़ा दु:ख शरीर का छूट जाना है, जिसे मृत्यु कहते हैं। हम पूरी व्यवस्था कर लें कि सभी अभीष्ट पदार्थ हमें सदा मिलते रहेंगे फिर भी ऐसी व्यवस्था तो नहीं की जा सकती कि हमारा शरीर न छूटे। यदि पदार्थ पर ही हमारा सुख निर्भर रहेगा तो और दु:ख आए न आए, मृत्यु का दु:ख तो आएगा ही। दु:ख से आत्यन्तिक छुटकारा तो तब ही संभव है जब हमारा सुख बाह्य पदार्थों पर निर्भर न हो। बाह्य पदार्थों से स्वतंत्रता का ऐसा भाव अपर वैराग्य कहलाता है। पतञ्जलि ने इसे वशीकार संज्ञा दी है—**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**

पदार्थ स्थूल हैं। प्रकृति सूक्ष्म है। प्रकृति का स्वरूप त्रिगुणात्मक है। इसी त्रिगुणात्मक प्रकृति से न केवल स्थूल शरीर बना है अपितु मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार जैसे सूक्ष्म अन्त:करण भी इसी प्रकृति से बने हैं। मान लें कि भोजनादि बाह्य पदार्थों के प्रति तो वितृष्णा हो गई, किन्तु

यह इच्छा शेष रह गई कि मेरी बुद्धि तीव्र होनी चाहिए। गुणों के तारतम्य से किसी की बुद्धि तीव्र हो सकती है, कोई उतना प्रतिभावान् नहीं हो सकता। अब अपेक्षाकृत मन्द बुद्धि वाले को यह दु:ख सालता रहेगा कि वह अमुक प्रतिभाशाली के समान प्रतिभाशाली क्यों नहीं है। इस दु:ख को मिटाने के लिये अपर वैराग्य काम नहीं आएगा, अत: परवैराग्य आवश्यक है।

परवैराग्य का अर्थ है कि त्रिगुणात्मक प्रकृति के प्रति माध्यस्थ भाव। सत्त्व गुण अधिक होने से बुद्धि प्रखर हो जाती है। प्रखर बुद्धि की सर्वत्र प्रशंसा होती है। मन्द बुद्धि की निन्दा भी होती है। किन्तु बुद्धि की प्रशंसा-निन्दा मेरी प्रशंसा-निन्दा नहीं है क्योंकि त्रिगुणात्मक बुद्धि नहीं हूँ अपितु त्रिगुणातीत पुरुष हूँ। यह भाव आने पर साधक प्रशंसा-निन्दा से ऊपर उठ जाता है—**सम: निन्दाप्रशंसासु**। यह परवैराग्य का फल है। भौतिक पदार्थों की नीरसता से अपर वैराग्य उत्पन्न होता है और आत्मस्वरूप के बोध से परवैराग्य उत्पन्न होता है— **तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्**। परवैराग्य होने पर न कुछ करना शेष रहता है, न कुछ जानना। यहाँ ज्ञान और वैराग्य एक हो जाते हैं। यही कैवल्य है—**एतस्यैव नान्तरीयकं कैवल्यमिति।**

सूत्र—वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञात: ॥ १.१७॥

अर्थ—वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता नामक रूपों के अनुगम से सम्प्रज्ञात (समाधि) होती है। (अर्थात् क्रमश: वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि होती है।)

व्याख्या

सम्प्रज्ञात समाधि—चित्तवृत्ति का निरोध योग है—यह योग की निषेधपरक व्याख्या है। अपने स्वरूप में स्थित हो जाना—यह योग का फल है, जो विधिपरक है। इनमें चित्तवृत्ति का निरोध एकदम नहीं हो जाता, शनैः शनैः चित्तवृत्ति को पहले एकाग्र किया जाता है, पुनः अन्त में चित्तवृत्ति का निरोध होता है। इसी प्रकार प्रारम्भ में ही स्वरूप में स्थिति नहीं हो पाती, पहले प्रकृति के स्वरूप को जाना जाता है, फिर पुरुष का अर्थात् अपने स्वरूप का ज्ञान होता है। प्रकृति पुरुष का आवरण बनी है। प्रकृति के ये आवरण कोश कहलाते हैं। ये कोश हमारे अनुभव में आ रहे हैं। प्रथम कोश तो मांस, रक्त, मज्जादि से बना स्थूल शरीर ही है जिसे अन्नमय कोश कहा जाता है। समाधि की यात्रा का प्रारम्भ यहीं से होता है। हम स्थूल शरीर तथा उसमें रहने वाली इन्द्रियों के गोलकों को तथा उन पंच महाभूतों को, जिनसे ये इन्द्रियाँ बनीं, अपने ज्ञान का विषय बनाते हैं। यदि इन स्थूल ज्ञेयों पर हमारी चित्तवृत्ति एकाग्र हो जाए तो इनका स्वरूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। यह चेतना के सबसे पहले और सबसे स्थूल आवरण अथवा कोश को जानने की प्रक्रिया है। भौतिक विज्ञान की यहीं तक गति है। दूसरे चरण में हम प्रकृति के उस सूक्ष्म रूप को जानते हैं जिसे पञ्चतन्मात्रा कहा जाता है। अध्यात्म में हम इन्द्रियों के बाह्य गोलकों से आगे जाकर इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियों को जानते हैं। आँख, कान आदि का स्थूल रूप तो हमें आँखों से ही दिखाई देता है किन्तु उनमें जो देखने, सुनने आदि की शक्ति है, वह हमें दिखाई नहीं देती। चित्तवृत्ति की एकाग्रता से हम उसे भी जान लेते हैं। प्रकृति का स्थूल रूप हो या सूक्ष्म—वह ज्ञेय अथवा ग्राह्य है। अतः दोनों रूपों पर चित्तवृत्ति को एकाग्र करना **ग्राह्यसमापत्ति**

कहलाता है। इनमें भी स्थूल रूप पर चित्त को एकाग्र करना वितर्क है तथा सूक्ष्म रूप पर चित्त को एकाग्र करना विचार है। यहाँ 'वितर्क' तथा 'विचार' शास्त्रीय पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं। अतः इनका जनसामान्य में प्रचलित अर्थ नहीं लेना चाहिए।

जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म की ओर बढ़ते हैं हमारा ज्ञान निर्मल होता जाता है अर्थात् हमारे ज्ञान में सत्त्वगुण की अधिकता होती जाती है। पञ्चतन्मात्रा तथा इन्द्रियों से भी अधिक सूक्ष्म अहङ्कार का बोध है। जब हम इस अहङ्कार पर चित्त को एकाग्र करना चाहते हैं तो तमोगुण और रजोगुण बहुत कम हो जाते हैं और सत्त्व गुण की मात्रा बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप उस समय आनन्द की अनुभूति होने लगती है। अतः इस अवस्था को आनन्दानुगत समाधि कहा गया है। जो साधक इसी स्थिति पर रुक जाते हैं, उन्हें स्वरूप का तो बोध नहीं होता किन्तु वे देह के भान से ऊपर उठ जाते हैं, अतः उन्हें विदेह कहा जाता है। साधक को इस आनन्द में उलझ कर नहीं रह जाना चाहिए। इसे **ग्रहणसमापत्ति** कहा जाता है। अहङ्कार से भी सूक्ष्म अस्मिता है। अहङ्कार में 'मैं सुखी हूँ' यह बोध होता है किन्तु अस्मिता में केवल यही बोध शेष रह जाता है कि 'मैं हूँ' अर्थात् केवल अपने अस्तित्व का बोध। किन्तु यह बोध भी एक चित्तवृत्ति ही है, यद्यपि यह चित्तवृत्ति की एकाग्रता की चरम सीमा है। इसे **ग्रहीतृसमापत्ति** कहा जाता है।

ये सवितर्क, सविचार, आनन्दानुगत तथा अस्मितानुगत चित्तवृत्ति की एकाग्रता की अवस्थाएँ सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है। इनमें पुरुष का अर्थात् अपने स्वरूप का बोध नहीं होता किन्तु प्रकृति के सूक्ष्मतम रूप का बोध होता है। प्रकृति के रूप का बोध भी सत्य के बोध का ही अङ्ग है। सत्य का बोध, चाहे वह आंशिक ही क्यों न हो, दुःख को दूर

करता है। अन्तर यह है कि सत्य का पूर्ण बोध दु:ख को सदा के लिए दूर कर देता है, जबकि सत्य का आंशिक बोध दु:ख को कुछ समय के लिए ही दूर कर सकता है, सदा के लिए नहीं। सत्य का पूर्ण रूप तो चित्तवृत्ति के निरोध होने पर ही प्रकट होता है जिसे स्वरूप में अवस्थित होना कहा गया है किन्तु चित्तवृत्ति की एकाग्रता से भी सत्य का आंशिक रूप तो प्रकट होता ही है। चित्तवृत्ति की एकाग्रता ज्यों-ज्यों बढ़ती है सत्य का सूक्ष्म से सूक्ष्मतर रूप प्रकट होता जाता है। सम्प्रज्ञात समाधियाँ—१. वितर्कानुगत. २. विचारानुगत, ३. आनन्दानुगत, ४. अस्मितानुगत—जिस विषय से सम्बद्ध हैं वे क्रमश: इस प्रकार हैं—१. स्थूल इन्द्रियाँ तथा पञ्चमहाभूत, २. इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्ति तथा पञ्चतन्मात्रा, ३. अहङ्कार, ४. अस्मिता।

इनमें प्रथम दो ग्राह्यसमापत्ति, तृतीय ग्रहणसमापत्ति तथा अन्तिम चौथी ग्रहीतृसमापत्ति कहलाती है।

पतञ्जलि के योग सूत्र का यह समाधिपाद है। अत: इसका मुख्य विषय समाधि ही है। यह विषय सूक्ष्म तथा अनुभवगम्य है। आगे के साधनपाद में इसी विषय को थोड़ा स्थूल शब्दों में भी कहा जाएगा। तथापि बिना अनुभव के इस विषय को स्पष्टतया समझना सम्भव नहीं है। सूत्र केवल संकेत ही कर सकते हैं। पूरा भाव समझने के लिए स्वयं अन्दर जाना होगा। योग प्रयोगात्मक दर्शन है।

सूत्र—विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्व: संस्कारशेषोऽन्य: ॥ १.१८ ॥

अर्थ—(सब वृत्तियों के) विराम के कारण (परावैराग्य) के अभ्यास से जो (उस अभ्यास के) संस्कार शेष रहते हैं (वह स्थिति) दूसरी (असम्प्रज्ञात) समाधि है।

व्याख्या

असम्प्रज्ञात समाधि तथा सहज समाधि—योगसूत्र का प्रथम पाद समाधिपाद कहलाता है। जो उत्तम अधिकारी अथवा श्रेष्ठ पात्र है, उसके लिए समाधिपाद का पढ़ लेना ही पर्याप्त माना जाता है, क्योंकि योग का लक्ष्य तो मोक्ष अथवा कैवल्य ही है और वह समाधि से ही प्राप्त हो जाता है किन्तु यह समाधि की स्थिति सबको अकस्मात् प्राप्त नहीं हो जाती, किसी पूर्वजन्म में योगाभ्यास किए हुए साधक को ही प्राप्त होती है। ऐसे साधक को ही उत्तम पात्र कहा जाता है। जिन्हें पूर्वजन्म में योगाभ्यास का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है उन्हें मध्यम पात्र कहा जाता है और उन्हें योगसूत्र के दूसरे पाद में बताए गए अष्टांगयोग रूप साधनों का अभ्यास करना पड़ता है। तृतीय श्रेणी के पात्र वे हैं जिन्हें योगशास्त्र में बताई गई बातों के बारे में पूरा विश्वास ही नहीं होता। उन्हें विश्वास दिलाने के लिए तृतीय पाद में विभूतियों का वर्णन है तथा चौथे कैवल्यपाद में तर्क-वितर्क में विश्वास करने वालों के लिए योग के पक्ष में युक्तियाँ दी हैं।

हम अभी प्रथम पाद के सूत्रों की चर्चा कर रहे हैं। इस पाद में बताई गई समाधियाँ उसी साधक की सध पायेंगी जिसने पूर्वजन्म में योगाभ्यास किया है अथवा जिसमें तीव्र वैराग्य है तथा जो दृढ़तापूर्वक निरन्तर अभ्यास करता है। शेष लोगों को तो अष्टांगयोग अर्थात् यम, नियम आदि साधनों को पहले साधना होगा। सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकारों का वर्णन करने के बाद पतञ्जलि कहते हैं कि सम्प्रज्ञात समाधि में तो चित्तवृत्ति को एकाग्र किया जाता है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति का निरोध कर दिया जाता है। दूसरी तरह कहना चाहें तो

सम्प्रज्ञात समाधि में तो साधक किसी न किसी ज्ञेय को अपनी चित्तवृत्ति का आलम्बन बनाता है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में चित्तवृत्ति का कोई आलम्बन नहीं होता।

सम्प्रज्ञात समाधि से यह ज्ञान हो जाता है कि शरीर भिन्न है तथा आत्मा भिन्न है। इस ज्ञान को विवेकख्याति कहा जाता है। किन्तु यह ज्ञान भी एक प्रकार की चित्तवृत्ति ही है। जब इस विवेकख्याति रूप चित्तवृत्ति का भी निरोध हो जाता है तब उसे 'विराम' कहा जाता है क्योंकि वहाँ सभी चित्तवृत्तियाँ ठहर जाती हैं। संसार के भोगों से विरक्त होना अपर-वैराग्य है किन्तु विवेकख्याति रूप अन्तिम चित्तवृत्ति से भी विरक्त हो जाना पर-वैराग्य है। इस पर-वैराग्य से ही असम्प्रज्ञात समाधि उपलब्ध होती है। सम्प्रज्ञात समाधि में भी बहुत अधिक आनन्द आता है। साधक अज्ञानवश उस आनन्द को ही मोक्ष मानकर उसमें अटक जाता है। इसलिए पतञ्जलि सावधान कर रहे हैं उस सम्प्रज्ञात समाधिजन्य आनन्द में भी साधक को रस नहीं लेना चाहिए अपितु उसके प्रति भी अनासक्ति का भाव रखना चाहिए। इसे ही पर-वैराग्य अर्थात् उत्कृष्ट कोटि का वैराग्य कहा जाता है। लौकिक सुख के प्रति वैराग्य अपर-वैराग्य है और समाधिजन्य सुख के प्रति वैराग्य उत्कृष्ट पर-वैराग्य है। अपर-वैराग्य के द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि तो पर-वैराग्य के अभ्यास से ही मिलती है।

असम्प्रज्ञात समाधि लग जाने का अर्थ यह नहीं है कि साधक सदा ही स्वरूप में अवस्थित हो जाएगा। चित्तवृत्ति का निरोध भी एक संस्कार है। पर-वैराग्य के अभ्यास से चित्तवृत्ति का निरोध कर तो लिया, किन्तु जैसे ही यह निरोध का संस्कार निर्बल पड़ता है, साधक की समाधि टूट जाती है। इसका कारण यह है कि असम्प्रज्ञात समाधि का

कारणभूत चित्तवृत्ति निरोध भी एक संस्कार ही है और कोई संस्कार सदा नहीं बना रह सकता। यह अवश्य है कि चित्तवृत्ति का निरोध संस्कार होने पर अन्य कोई चित्तवृत्ति नहीं है। जब यह निरोध का संस्कार भी समाप्त हो जाता है तब कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। यूँ समझना चाहिए कि जब तक समाधि में अभ्यास का अंश है तब तक वह असम्प्रज्ञात समाधि है किन्तु जब यही समाधि बिना प्रयत्न के बनी रहे तो उसे कैवल्य कहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि सान्त है किन्तु कैवल्य का अन्त नहीं है। इसलिए असम्प्रज्ञात समाधि को 'संस्कारशेष' अर्थात् जिसमें निरोध का संस्कार बाकी रह जाता है, ऐसी बताया है।

मूलसूत्र है—**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः**। अन्य=असम्प्रज्ञात समाधि, विराम=चित्तवृत्ति के निरोध रूप है जो प्रत्ययाभ्यास=पर-वैराग्य उससे प्राप्त होती है। चित्तवृत्ति गुण का परिणमन है, पुरुष का स्वरूप नहीं। गुण-मात्र के प्रति वैराग्य का भाव ही पर-वैराग्य है। चित्त की एकाग्रता और सत्त्व गुण के उद्रेक से अतिशय आनन्द उत्पन्न होता है किन्तु यह आनन्द भी प्रकृतिजन्य है। अतः उसके प्रति भी साधक को आसक्त नहीं होना चाहिए। स्वर्ण को शुद्ध करने के लिए सीसा मिलाकर उसे अग्नि में डाला जाता है। वह सीसा स्वर्ण के मैल को जलाकर स्वयं भी जल जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि में निरोध के संस्कार से सम्प्रज्ञात समाधि के एकाग्रता के संस्कार नष्ट होते हैं। एकाग्रता के संस्कार को नष्ट करके स्वयं निरोध का संस्कार भी नष्ट हो जाता है। यही कैवल्य है।

सूत्र—भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १.१९॥

अर्थ—विदेह और प्रकृतिलयों को जन्म से ही (असम्प्रज्ञात समाधि की) प्रतीति होती है।

व्याख्या

योगमार्ग—योग के मार्ग पर चलना असि-धारा पर चलने के समान है। सांसारिक भोगों का आकर्षण तो साधक को योगमार्ग से भ्रष्ट करता ही है, योग से उत्पन्न होने वाले अतिशयों का आकर्षण भी साधक को अपने लक्ष्य से च्युत कर देता है। साधक जैसे-जैसे चित्तवृत्ति की एकाग्रता साधता है, उसे अपूर्व आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि वह उसी आनन्द में अपनी कृतकृत्यता मान ले तो उसकी प्रगति कैवल्य प्राप्ति के लक्ष्य की ओर नहीं हो पाती।

योग के साधक को यह ध्यान रखना है कि उसका उद्देश्य आनन्द की प्राप्ति नहीं है। दु:ख का कारण रजोगुण है और रजोगुण का कार्य चित्त को चञ्चल करना है। चित्त जितना चञ्चल दु:ख उतना अधिक, चित्त जितना एकाग्र सुख उतना अधिक। किन्तु चित्त की एकाग्रता से होने वाला सुख भी मोक्ष नहीं है। रजोगुण की न्यूनता और सत्त्वगुण की अधिकता से दु:ख कम होता है और सुख की मात्रा बढ़ जाती है, किन्तु है यह भी प्राकृतिक सुख ही। इस सुख के प्रति भी अनासक्ति रखने को पर-वैराग्य कहा गया है। यह पर-वैराग्य ही मोक्ष की ओर ले जाता है। समझना यह है कि पुरुष निर्गुण है जबकि सत्त्वगुण से उत्पन्न होने वाला सुख गुण का ही एक परिणाम-विशेष है। सत्त्व के उद्रेक से उत्पन्न होने वाले सुख को मोक्ष नहीं मान लेना चाहिए—**नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मत्वात्।**

चित्त की एकाग्रता का अर्थ है कि चित्तवृत्ति को अन्य ध्येयों से हटाकर एक ध्येय पर लगा देना। सम्प्रज्ञात समाधि में यही किया जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि का ध्येय जितना सूक्ष्म होगा आनन्द उतना अधिक होगा। यदि चित्तवृत्ति अहङ्कार पर एकाग्र की गई तो आनन्द की स्थिति

एक हजार मन्वन्तर तक बनी रहेगी। किन्तु अहङ्कार से भी सूक्ष्म बुद्धि है, अत: यदि चित्तवृत्ति बुद्धि पर एकाग्र की गई तो आनन्द की स्थिति दस हजार मन्वन्तर तक बनी रहेगी। बुद्धि से भी सूक्ष्म अव्यक्त प्रकृति है। उस अव्यक्त प्रकृति पर चित्तवृत्ति को स्थिर करने का आनन्द एक लाख मन्वन्तर तक बना रहेगा। ऐसा वायु पुराण में कहा गया है। अभिप्राय यह है कि ये सब आनन्द बहुत-बहुत लम्बे समय तक बने रहने पर भी हैं सावधिक ही। किन्तु निर्गुण पुरुष के स्वरूप में स्थित हो जाने पर जो कैवल्य की स्थिति है उसकी कोई कालावधि नहीं है—**पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।**

प्रश्न होता है कि साधक एक साथ तो कैवल्य को प्राप्त करता नहीं है। वह स्थूल से ही अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है। यदि वह सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति को प्राप्त करके ही अपना शरीर छोड़ दे और असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त न कर पाए तो उसका क्या परिणाम होगा? गीता ने इस विषय में कहा है कि वह पहले तो लम्बे समय तक देवयोनि में जाकर सुख भोगेगा और फिर किसी पवित्र कुल में अथवा योगियों के कुल में ही जन्म लेगा। वहाँ उसकी योग की यात्रा पुन: चालू हो जाएगी। पहले जन्म में की गई साधना के बल पर इस जन्म में उसे सहज की असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है।

वर्तमान में भी ऐसे अनेक उदाहरण देखने में आए हैं जहाँ कोई बालक बिना किसी शिक्षा-दीक्षा के ही योगाभ्यास में निपुणता प्रदर्शित कर देता है। यह पूर्वजन्म के अभ्यास का फल है। ऐसे साधक को पतञ्जलि दो भागों में बाँटते हैं—विदेह और प्रकृतिलय। विदेह वे हैं जिन्होंने अपनी चित्तवृत्ति पञ्चभूत अथवा इन्द्रियों पर एकाग्र की थी। प्रकृतिलय वे हैं जिन्होंने अपनी चित्तवृत्ति पञ्चतन्मात्रा, अहङ्कार, बुद्धि

अथवा अव्यक्त प्रकृति पर एकाग्र की थी। विदेहों की अपेक्षा प्रकृतिलय अधिक समय तक देवयोनि में रहते हैं किन्तु देवयोनि से इन दोनों को ही मनुष्यलोक में आना पड़ता है। जब ये मनुष्यलोक में आते हैं तो पूर्वभव में सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास का संस्कार इनके साथ चला जाता है। परिणामस्वरूप बिना किसी विशेष प्रयत्न के ही इनकी असम्प्रज्ञात समाधि लग जाती है—**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्**। भवप्रत्यय का अर्थ है जन्म से जिसका ज्ञान हो जाए। महर्षि रमण, परमहंस रामकृष्ण तथा योगिराज अरविन्द जैसे व्यक्तियों को इसी कोटि में माना जा सकता है कि उनका पूर्वजन्म का योगाभ्यास उन्हें इस जन्म में शीघ्र ही असम्प्रज्ञात समाधि में ले गया।

यहाँ जिनकी योग साधना एक जन्म में अधूरी रह गई उसके दो फल माने गये हैं। पहला फल है कि वे देवत्व को प्राप्त कर अतिशय सुख प्राप्त करते हैं। दूसरा फल है कि उस सुख की अवधि समाप्त हो जाने पर वे मनुष्यलोक में आकर सरलता से ही बिना किसी विशेष प्रयत्न के अपनी योग-साधना को आगे बढ़ा सकते हैं। अतः साधक को यदि इस जन्म में पूर्ण सिद्धि न भी मिले, तो भयभीत नहीं होना चाहिए। उसका भविष्य उज्ज्वल ही होता है।

दूसरी स्थिति उनकी है जिनकी पूर्वजन्म में सञ्चित की गई योग साधना की कोई पूँजी नहीं है। उन्हें भी निराश होने की आवश्यकता बिल्कुल नहीं है। पुरुषार्थ से सब कुछ सिद्ध हो सकता है। लौकिक क्षेत्र में तो भाग्य कभी-कभी पुरुषार्थ को भी सफल नहीं होने देता, किन्तु योग के क्षेत्र में किया गया पुरुषार्थ कभी निष्फल नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि ने योग सम्बन्धी पुरुषार्थ के पाँच सोपान बताए हैं—श्रद्धा, वीर्य,

स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। इन पाँच के द्वारा वह साधक भी अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है जिसकी पूर्वजन्म की कोई योग सम्बन्धी कमाई नहीं है। हममें से अधिकतर साधक इसी कोटि के हैं।

सूत्र—श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ १.२०॥

अर्थ—दूसरों (अर्थात् जिनका पूर्वजन्म का योगाभ्यास नहीं) को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा से समाधि मिलती है।

व्याख्या

पुरुषार्थ के पाँच घटक—महर्षि रमण, परमहंस रामकृष्ण अथवा श्री अरविन्द जैसे भाग्यशाली व्यक्ति तो करोड़ों में से एक-दो ही होते हैं जिन्हें पूर्वजन्म के योगाभ्यास का संस्कार वर्तमान जन्म में तत्काल असम्प्रज्ञात समाधि में ही नहीं, सहज समाधि में भी ले जाता है। शेष हम जैसे सामान्य साधकों को इसी जन्म में पुरुषार्थ करके सिद्धि प्राप्त करनी होती है। इस पुरुषार्थ के पाँच घटक हैं—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा। इस सूत्र में पतञ्जलि इन्हीं पाँच घटकों का वर्णन करते हैं। इनमें से श्रद्धा का अर्थ है—शास्त्र के अध्ययन अथवा आचार्य के उपदेश सुनकर योग में अभिरुचि का उत्पन्न हो जाना। इस अभिरुचि के बिना प्रथम तो योग में प्रवृत्ति होती ही नहीं और यदि सुनी-सुनाई बातों के आधार पर कोई योग में प्रवृत्ति हो भी जाए तो उसकी यह प्रवृत्ति निरन्तर नहीं बनी रहती। अनियमित योगाभ्यास का कोई विशेष फल नहीं होता। यदि कोई बलपूर्वक किसी को नियमित योगाभ्यास कराए भी तो साधक ऐसा अनमने मन से करता है और दुःखी होता रहता है कि बुरे फँस गए। ऐसा योगाभ्यास विशेष फल नहीं देता। श्रद्धा के कारण साधक स्वेच्छा से प्रफुल्लित मन से योग में नियमित रूप से प्रवृत्ति करता है।

यह श्रद्धा ही वह उत्साह पैदा करती है जो साधक को योगाभ्यास का बल प्रदान करता है। इस उत्साह को ही वीर्य कहा गया है। वीर्य के कारण साधक को सदा यह स्मृति बनी रहती है कि वह योगाभ्यास कर रहा है। इस स्मृति के कारण साधक रात-दिन में ऐसा कोई भी व्यवहार नहीं करता जो योग में बाधक हो। योग कोई एक समय विशेष में किया जाने वाला अभ्यास ही नहीं, बल्कि पूरे समय साधक को यह सावधानी बरतनी है कि उसका प्रत्येक कार्य योगानुकूल हो।

ऐसी स्मृति बनी रहे तो साधक का चित्त शनैः शनैः स्थिर होने लगता है, चञ्चलता कम होने लगती है। उसकी स्थिति स्थितप्रज्ञता की बन जाती है। इसे ही यहाँ समाधि कहा गया है। यह स्थितप्रज्ञता अन्ततोगत्वा विवेकख्याति उत्पन्न कर देती है जिसे प्रज्ञा कहा गया है। बुद्धिमान् व्यक्ति बुद्धिबल पर बड़े-बड़े आविष्कार कर सकता है किन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह सदाचारी भी हो। इसके विपरीत प्रज्ञावान् व्यक्ति कभी भी वैसा आचरण नहीं करता जो चित्त को मलिन बनाए। यह बुद्धि और प्रज्ञा का मुख्य भेद है। बुद्धि उनकी भी प्रखर हो सकती है जो योगाभ्यासी न हों किन्तु प्रज्ञा तो योग से ही प्राप्त होती है।

बुद्धि तर्क-वितर्क करती है। तर्क की बहुत बड़ी शक्ति है। तर्क के बल पर विज्ञान प्रकृति पर विजय प्राप्त करके अनेक चमत्कारी आविष्कार कर रहा है, किन्तु श्रद्धा तर्कातीत है। प्रेम भी तर्कातीत है। तर्क की सीमा प्रकृति तक ही है क्योंकि प्रकृति पर कारण-कार्य सम्बन्ध लागू होता है। चेतना कारण-कार्य सम्बन्ध से मुक्त है। इसलिए वहाँ तर्क की गति नहीं है। वहाँ केवल श्रद्धा ही काम देती है। इसलिए शास्त्र प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त आगम नाम का एक अन्य प्रमाण भी मानते हैं। यदि सब कुछ प्रत्यक्ष और अनुमान से ही सध गया होता तो

आगम-प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं थी। जब श्रद्धा होती है तो मन अखण्ड हो जाता है और हम जो करते हैं पूरे मन से करते हैं। इसे ही वीर्य कहा जाता है। तर्क में सदा दो खण्ड रहते हैं—एक पक्ष, एक विपक्ष। तर्क में मन भागों में बँट जाता है—एक भाग कहता है कि योग से लाभ होगा, दूसरा भाग कहता है कि योग से कुछ नहीं होगा। यह बँटा हुआ मन किसी भी कार्य में पूरी शक्ति नहीं लगने देता। अधूरी शक्ति की स्थिति में मन में कभी योग की स्मृति रहती है तो कभी भोग की। इसे ही चञ्चलता कहा जाता है। चञ्चल चित्त में प्रज्ञा का उदय नहीं हो पाता। प्रज्ञा के अभाव में साधक सदाचार के मार्ग से भटक जाता है। सदाचार के पालन के लिए भी शक्ति चाहिए और दुराचार के लिए भी शक्ति चाहिए। यदि पूरी शक्ति सदाचार में लग जाए तो दुराचार के लिए शक्ति शेष ही नहीं रह जाती। तब ब्रह्मचर्य स्वयं ही सध जाता है। यही समाधि है। समाधि का शब्दार्थ है—समाधान। जब तक श्रद्धा नहीं है, तर्क है, तब तक शक्ति बँटी है। जब तक शक्ति विभक्त है एक ओर योग खींचता है, दूसरी ओर भोग खींचता है। यह समस्या है। शक्ति पूर्णतः योग में लग जाए यह समाधान है, समाधि है। समाधि में दो शब्द हैं—सम और आधि। आधि मनोदशा का नाम है। जब मनोदशा सम अर्थात् अविभक्त है, तब समाधान है। जब मनोदशा विषम अर्थात् विभक्त है, तब तक द्वंद्व चलता रहेगा, समस्या बनी रहेगी। समाधि में साधक को जो प्रज्ञा प्राप्त होती है, वह स्वतः प्रमाण होती है। आचार्य कहते हैं कि प्रज्ञावान् शास्त्र देखकर आचरण नहीं करता अपितु वह जो आचरण करता है, वही आचरण शास्त्र बन जाता है। ऐसी महिमा है प्रज्ञा की। इस प्रज्ञा की प्राप्ति के दो साधन हैं—वैराग्य और अभ्यास। ये दोनों जितने तीव्र और सशक्त होते हैं सफलता उतनी जल्दी मिलती है।

सूत्र—तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ १.२१॥

अर्थ—तीव्र उपाय वालों को (समाधि-लाभ) शीघ्र होता है।

सूत्र—मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः॥ १.२२॥

अर्थ—मृदु, मध्य और अधिमात्र (वैराग्य) होने से उस (तीव्र उपाय) में भी तारतम्य रहता है।

व्याख्या

वैराग्य और अभ्यास—साधकों में प्रायः वैराग्य का न्यूनाधिक भाव रहता है। जब हम किसी प्रिय व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके अन्तिम संस्कार के लिए श्मशान-घाट जाते हैं तब जीवन की नश्वरता का आभास प्रायः सभी को होता है किन्तु यह आभास अधिक समय तक नहीं रहता। इसे श्मशान का वैराग्य कहा जाता है। ऐसा वैराग्य योग में उपयोगी सिद्ध नहीं होता। श्मशान से लौटते-लौटते यह समाप्त हो जाता है। योग में अनासक्ति का भाव उपयोगी होता है। देखने में आता है कि कुछ लोग सुख-लोलुप नहीं होते। उन्हें जो मिल जाए उसी में सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी आवश्यकताएँ बहुत कम होती हैं। जितने मात्र में शरीर का निर्वाह हो जाए, उनके लिए उतना ही पर्याप्त होता है। उन्हें प्रशंसा की भी भूख नहीं होती। कदाचित् आवश्यक पदार्थ भी न मिले तो विचलित नहीं होते। सुख-दुःख, लाभ-हानि, मान-अपमान, संयोग-वियोग में वे समान भाव रखते हैं। यह स्थिति उनकी है जिनका संवेग का भाव तीव्र होता है। ऐसे लोगों को शीघ्र ही समाधि का लाभ हो जाता है—**तीव्रसंवेगानामासन्नः**।

दूसरे साधकों का संवेग तीव्र न होकर मध्यम कोटि का होता है। वे आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ सुविधा भी चाहते हैं। रोटी

हमारी आवश्यकता है किन्तु भोजन स्वादिष्ट हो, यह सुख की कामना है। सोने के लिए शय्या चाहिए, वह शय्या आरामदेह हो, यह भी सुख की कामना है। मध्यम कोटि के साधक केवल आवश्यकता की पूर्ति से ही सन्तुष्ट नहीं होते, वे आराम भी चाहते हैं। इन्हें लक्ष्य की प्राप्ति विलम्ब से होती है।

तीसरी कोटि के साधक आराम ही नहीं, विलासिता की सामग्री भी चाहते हैं। ऐसे साधकों का संवेग मृदु ही होता है। ऐसे मृदु वैराग्य वाले साधकों को लक्ष्य की प्राप्ति बहुत विलम्ब से होती है। इस संवेग अथवा वैराग्य की तीन कोटियाँ हैं। अभ्यास की भी तीन कोटियाँ हैं। कुछ साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तथा समाधि रूप योग के आठों अंगों का पालन पूर्ण निष्ठा से करते हैं। वे अपना अधिकांश समय इन अंगों के अभ्यास में ही लगा देते हैं। उनका अभ्यास अधिमात्र कहलाता है।

दूसरे साधक इन आठों अंगों में कुछ अंगों का अभ्यास करते हैं। देखने में आता है कि योग के नाम पर कुछ लोग आसन तथा प्राणायाम ही करके अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं। कुछ लोग केवल ध्यान में ही कृतकृत्यता मान लेते हैं। यह योग का अधूरा अभ्यास है। यह मध्यम कोटि है। तीसरे साधक योग के कुछ अंगों का भी अभ्यास नियमित रूप से नहीं करते। इन्हें योग का फल बहुत विलम्ब से मिलता है।

योग के जो आठ अंग बताए गए हैं, उन्हें दो भागों में बाँटा गया है—बहिरंग और अन्तरंग। योग के आठ अंगों में यम से प्रत्याहार पर्यन्त पाँच अंग बहिरंग हैं तथा ध्यान, धारणा और समाधि अन्तरंग हैं। अन्तरंग

बहिरंग की अपेक्षा अधिक बलवान् हैं किन्तु बहिरंगों को साधे बिना अन्तरंग की सिद्धि नहीं हो सकती। यह बात बहुत महत्त्व की है। यमों का पालन व्यक्ति को सामाजिक रूप में पवित्र बनाता है। जिसका व्यावहारिक जीवन पवित्र नहीं है, उसका योगाभ्यास एक ढोंग ही समझना चाहिए।

योग का प्रयोजन तो कैवल्य की प्राप्ति है। कैवल्य की प्राप्ति विवेकख्याति से होती है। विवेकख्याति का अर्थ है शरीर को आत्मा से भिन्न जानना। सारे अपराध शरीर के पोषण के लिए होते हैं। जो यह जान लेगा कि मैं शरीर नहीं हूँ, आत्मा हूँ, वह शरीर के पोषण के लिए हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह क्यों करेगा? जिनका लौकिक व्यवहार छल-छद्म और क्रूरतापूर्ण है, वे योग के लक्ष्य को कभी प्राप्त नहीं कर सकते, भले ही कितना ही आसन, प्राणायाम और ध्यान करते रहें। उपर्युक्त तीन को तीन से गुणा करने से योगी नौ प्रकार के हो जाते हैं। उन निम्न नौ प्रकार के योगियों में उत्तर-उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व का योगी श्रेष्ठ है—

(१) तीव्र वैराग्य तथा अधिमात्र उपाय वाला (२) मध्य वैराग्य तथा अधिमात्र उपाय वाला (३) मृदु वैराग्य तथा अधिमात्र उपाय वाला (४) तीव्र वैराग्य तथा मध्य उपाय वाला (५) मध्य वैराग्य तथा मध्य उपाय वाला (६) मृदु वैराग्य तथा मध्य उपाय वाला (७) तीव्र वैराग्य तथा मृदु उपाय वाला (८) मध्य वैराग्य तथा मृदु उपाय वाला (९) मृदु वैराग्य तथा मृदु उपाय वाला। अभिप्राय यह है कि वही योगी योग में पूर्णतः सफल हो पाता है जिसका वैराग्य उत्कृष्ट है और जो योग के आठों अंगों का अभ्यास नियमित रूप से पूर्ण निष्ठा के साथ करता है।

शेष प्रकार के योगी वैराग्य और अभ्यास के तारतम्य के अनुसार विलम्ब से ही सिद्धि प्राप्त कर पाते हैं।

योग एक प्रायोगिक दर्शन है। मन में आसक्ति बनी है और अभ्यास में प्रवृत्ति नहीं है तो योग दर्शन का पाण्डित्य किसी काम नहीं आता। इस अर्थ में योग को एक दर्शन ही नहीं विज्ञान भी मानना चाहिए।

सूत्र—ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ १.२३॥

अर्थ—अथवा ईश्वर की भक्ति से (शीघ्र समाधि-लाभ होता है।)

सूत्र—क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥१.२४॥

अर्थ—क्लेश, कर्म तथा कर्मफल की वासना से अस्पृष्ट विशेष पुरुष ईश्वर है।

व्याख्या

ईश्वर के ध्यान का फल—श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का एक मार्ग है। यह मार्ग उनके लिए है जो अपने पुरुषार्थ द्वारा सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं। भक्त पुरुषार्थ में नहीं अपितु कृपा में विश्वास करता है। वह चाहता है कि कोई उसका हाथ पकड़ कर उसे सन्मार्ग पर ले चले। योग का मार्ग अपरिचित है। भोग के मार्ग का परिचय तो जीव को अनादिकाल से रहा है, योग में वह पहली बार प्रवृत्त हुआ है। योग-मार्ग अपरिचित ही नहीं, दुष्कर भी है, साधक कहीं भी स्खलित हो सकता है। साहसी व्यक्ति उस मार्ग पर बिना किसी की सहायता के अकेले चल पड़ते हैं। महात्मा बुद्ध ऐसे ही साहसी व्यक्ति थे। उन्होंने अपना पथ स्वयं प्रशस्त किया। पुरुषार्थ से उन्होंने सिद्धि भी

प्राप्त कर ली। इसलिए उन्होंने घोषणा कर दी कि अपने दीपक तुम स्वयं बनो—**अप्पदीपो भव**। इस मार्ग में ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं, न उसकी कृपा की कोई आवश्यकता है। सांख्यकारिका में भी ईश्वर की अवधारणा अनुपलब्ध है। अब तक के सूत्रों में पतञ्जलि ने भी ईश्वर चर्चा नहीं की किन्तु पतञ्जलि ने अनुभव किया कि पुरुषार्थ ही सिद्धि का एकमात्र साधक नहीं है, कृपा से भी सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

पतञ्जलि कहते हैं कि ईश्वर-प्रणिधान से भी सिद्धि मिल जाती है—**ईश्वरप्रणिधानाद्वा**। प्रणिधान के दो अर्थ हैं—(1) ध्यान तथा (2) शरणागति। ध्यान से अभिप्राय यह है कि हम ईश्वर को अपने ध्यान का विषय बनाएँ। यह प्रत्यक्ष से सिद्ध है कि हम जिसका ध्यान करते हैं, हमारी चित्तवृत्ति तद्रूप ही परिणत हो जाती है। यदि हमारे भोजन करते समय कोई मल-मूत्र का नाम ले तो हम कहते हैं कि खाना खाते समय मल-मूत्र जैसी गन्दी चीजों का नाम मत लो। कारण यह है कि खाना खाते समय मूल-मूत्र का नाम लेने से उन्हीं का ध्यान आजाता है। यदि मल-मूल जैसी गन्दी चीजों का ध्यान चित्तवृत्ति को मलिन कर देता है तो ईश्वर जैसी निर्मल अवधारणा का ध्यान चित्तवृत्ति को निर्मल क्यों नहीं बना देगा? चित्तवृत्ति के निर्मल होने का अर्थ है—चित्तवृत्ति की एकाग्रता। इस प्रकार ईश्वर का ध्यान भी चित्तवृत्ति की एकाग्रता साध देगा। यही तो योग का प्रयोजन है। अतः पतञ्जलि श्रद्धा, वीर्य, आदि पुरुषार्थ-साध्य साधनों के विकल्प में ईश्वर के ध्यान को भी चित्तवृत्ति की एकाग्रता की साधना मानते हैं। पतञ्जलि उदारतावादी हैं। प्रथम विकल्प पुरुषार्थ है, दूसका विकल्प ईश्वर का ध्यान है। मान लो कोई ईश्वर जैसी अवधारणा को मानता ही न हो तो पतञ्जलि उसके लिए कहते हैं कि वह किसी भी

ऐसी चीज का ध्यान कर सकता है जो उसे प्रिय लगती हो—**यथाभिमतध्यानाद्वा**। इतना ही नहीं, वे अन्य भी पाँच विकल्प आगे चल कर देंगे ताकि हर रुचि के साधक को अपने अनुकूल विकल्प मिल जाए। आप ईश्वर को मानें तो भी ठीक, न मानें तो भी ठीक, पुरुषार्थ करें तो भी ठीक, भक्ति-मार्ग से चलें तो भी ठीक। इतना लचीलापन या तो गीता में है या फिर योगसूत्र में। दूसरे दर्शन शायद ही इतनी छूट दें। इसलिए योग-सूत्र और गीता दो ऐसे ग्रन्थ हैं जो सब सम्प्रदायों के हैं और किसी भी सम्प्रदाय के नहीं हैं। अभी ईश्वर की चर्चा चल रही है। ईश्वर का ध्यान कैसे किया जाए? जिस प्रकार सांख्य का पुरुष शुद्ध, बुद्ध, निरञ्जन, निर्विकार है उसी प्रकार ईश्वर भी अविद्या से रहित, शुभाशुभ कर्मों से अलिप्त, कर्मफल से मुक्त तथा वासना से अस्पृष्ट है—**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**

प्रश्न होता है कि पुरुष भी ऐसा ही है तो ईश्वर तथा पुरुष में क्या भेद है? उत्तर यह है कि पुरुष यद्यपि शुद्ध बुद्ध ही है किन्तु अविद्या के कारण वह चित्त में रहने वाले क्लेशादि को औपचारिक सम्बन्ध से अपने पर आरोपित किए हुए है। ईश्वर अविद्या के अभाव में ऐसे औपाधिक सम्बन्ध से भी मुक्त है। दूसरा प्रश्न है कि जिनकी अविद्या दूर हो गई ऐसे मुक्त पुरुष तो ईश्वर के ही समकक्ष होंगे, उन्हें भी ईश्वर ही मान लिया जाए तो क्या हानि है? उत्तर यह है कि मुक्त पुरुष प्रथम अविद्यायुक्त थे बाद में अविद्या-मुक्त हुए। ईश्वर सदा से ही अविद्या-मुक्त है। यह मुक्त पुरुष तथा ईश्वर में भेद है।

ईश्वर प्रणिधान का दूसरा अर्थ है—शरणागति। शरणागति का अभिप्राय है फल ईश्वर पर छोड़ देना। फल अनुकूल हो तो ईश्वरेच्छा;

हमें अनुकूलता का अहङ्कार नहीं करना है। फल प्रतिकूल हो तो भी ईश्वरेच्छा; हमें दीनता की आवश्यकता नहीं है। योगी को योगाभ्यास में अनेक अलौकिक चमत्कारी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यदि वह उनका अभिमान करने लगेगा तो उसका पतन हो जाएगा। अत: फल को ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। हो सकता है कि योगाभ्यास करने पर भी ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करना तो दूर रहा, साधारण सफलता भी न मिले। ऐसे में भी योगाभ्यास के उत्साह में कमी नहीं आने देनी चाहिए। योगाभ्यास का क्या फल मिला—इसे ईश्वर पर छोड़ देना चाहिए।

ईश्वरोपासना का अर्थ—ईश्वर को फल अर्पित कर देने का अर्थ है कि हमने भविष्य से अपना सम्बन्ध तोड़ पर वर्तमान से अपना सम्बन्ध जोड़ लिया क्योंकि फल सदा भविष्य में रहता है और वर्तमान में सदा कर्म ही रहता है। फल के साथ अपने को जोड़ देने का अर्थ है कि हमारा मन सदा भविष्य में भटकेगा। वर्तमान में आने का अर्थ है—ईश्वर से जुड़ जाना। मोक्ष में बाधक है—अहङ्कार। शरणागति का अर्थ है—अहङ्कार का विसर्जन। अहंकार कभी कर्म का नहीं होता, अहङ्कार होता है उस फल का जो कर्म से मिलता है। कर्म करने से अहङ्कार पैदा नहीं होता, अहङ्कार पैदा होता है इस बुद्धि से कि मैंने जो कर्म किया उसका फल कितना बड़ा निकला। जब मैंने फल का ही विसर्जन कर दिया तो अहङ्कार किसका करूँगा। ईश्वर को फल अर्पित कर देना एक उपाय है अहङ्कार के विसर्जन का।

फल समर्पित कर दिया तो शेष रह गया वर्तमान, जिसमें कर्म किया जाता है। ऐसा कर्म बन्धन नहीं बनता। कर्म वर्तमान में है, उसका फल भविष्य में। भविष्य में क्या फल होगा—यह चिन्ता ही तनाव

उत्पन्न करती है। यह तनाव ही बन्धन है। भविष्य की चिन्ता गई तो तनाव गया। तनाव गया तो बन्धन गया। शेष रह गया वर्तमान। वर्तमान कहें, अस्ति कहें, सत् कहें, ईश्वर कहें, अस्तित्व कहें—सब एक ही बात है। उपनिषद् ने ब्रह्म के लिए तीन शब्द दिए—अस्ति, भाति, प्रियम्। जो है, उसी का ज्ञान हो सकता है। भूत और भविष्य 'अस्ति' नहीं हैं वह तो 'आसीत्' और 'भविष्यति' हैं। ईश्वर 'आसीत्' होगा तो सान्त हो जाएगा और यदि 'भविष्यति' होगा तो सादि हो जाएगा। वह अनादि और अनन्त है इसलिए वह सदा वर्तमान है । वह सदा वर्तमान है इसलिए उसका ज्ञान सच्चा है। अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पना ज्ञान नहीं है। जो था पर अब नहीं है उसका तथा जो अभी नहीं है पर बाद में कभी होगा, उसका अभी ज्ञान कैसे हो सकता है?

ईश्वर को फलार्पण कर देना एक उपाय है—अपने को भविष्य से तोड़ लेने का। भविष्य से टूटे तो वर्तमान में आ गए, यथार्थ में आ गए। यथार्थत: हम भी ईश्वर ही हैं। हमारे शुद्ध रूप में तथा ईश्वर में कोई भेद नहीं है।

यदि जीवन्मुक्त का स्वरूप समझ लें तो ईश्वर का स्वरूप समीचीन रूप में समझ आ जाता है। कपिल हों या पतञ्जलि, बुद्ध हों या महावीर—ये जीवन्मुक्त होकर भी प्राणिमात्र के कल्याण के लिए उपदेश देते हैं। क्या उनकी उपदेश देने की यह प्रवृत्ति बन्धन का कारण बनती है ? यदि यह प्रवृत्ति भी बन्धन का कारण बन जाए तो फिर वे कभी निर्वाण को प्राप्त कर ही नहीं सकेंगे। जिस प्रकार ये मुक्तात्मा उपदेश देकर भी बंधन में नहीं पड़ते, ईश्वर भी वेद का उपदेश देता है किन्तु उसका यह कर्म उसे बाँधता नहीं। प्रश्न होता है कि जीवन्मुक्तों के तो कण्ठ, तालु

आदि अवयव होते हैं। अत: वे उपदेश दे सकते हैं, ईश्वर के तो ये अवयव हैं ही नहीं, फिर वह उपदेश कैसे देगा? ईश्वर शुद्ध अन्त:करण वाले ब्रह्मा आदि के चित्त में वेद का ज्ञान अवतरित कर देता है और ब्रह्मा आदि सावयव होने के कारण उस ज्ञान को शब्द दे देते हैं। यह शब्दराशि ही वेद कहलाती है। एक दूसरी बात। जीवन्मुक्त अपने शिष्यों का संघ बनाते हैं तथा उस संघ की व्यवस्था भी निर्धारित करते हैं। इस प्रवृत्ति में प्राणियों के कल्याण की भावना ही निहित रहती है। उन जीवन्मुक्तों का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, वे तो पहले ही कृतकृत्य हो चुके हैं। इसी प्रकार ईश्वर, जो सदा ही कृतकृत्य है, बिना किसी स्वार्थ के प्राणियों का कल्याण करने के लिए सृष्टि की व्यवस्था करता है। इससे उसे किसी प्रकार का बंधन नहीं होता।

ईश्वर ने दु:ख पैदा नहीं किया, उसने तो पापों के लिए दण्डव्यवस्था बनाई है। उसने पाप-पुण्य का विवेक वेद-शास्त्र द्वारा प्रदान कर दिया और पाप के लिए दण्डव्यवस्था तथा पुण्य के लिए पुरस्कारव्यवस्था बना दी। मनुष्य को बुद्धि दी कि वेद शास्त्र द्वारा अनुशीलन करके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करें तथा कर्त्तव्य का पालन करें और अकर्त्तव्य को छोड़ें। अब यदि कोई ऐसा नहीं करता है तो वह दण्ड का पात्र होता ही है। उसकी दण्ड-व्यवस्था करना ईश्वर की न्यायकारिता है न कि निष्करुणता। कहा जा सकता है कि पाप-पुण्य के अनुसार दु:ख-सुख की व्यवस्था प्रकृतिकृत है। उसमें ईश्वर की क्या आवश्यकता है? पाप से दु:ख तथा पुण्य से सुख हो यह नियम बुद्धि से अत्यन्त न्यायसङ्गत प्रतीत होता है। जड प्रकृति इतनी न्यायसङ्गत व्यवस्था कैसे कर सकती है। यह व्यवस्था तो किसी ज्ञानवान् द्वारा ही की जा सकती है। वह ज्ञानवान् भी साधारण नहीं, सर्वज्ञ होना चाहिए। यह सर्वज्ञ ही तो ईश्वर है।

सूत्र—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ १.२५॥

अर्थ—उस (ईश्वर) में सर्वज्ञता का हेतु (उसके ज्ञान का) सर्वोत्कृष्ट होना है।

सूत्र—पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्॥ १.२६॥

अर्थ—वह (ईश्वर) पूर्ववर्तियों का भी गुरु है, क्योंकि वह काल से अवच्छिन्न (परिमित) नहीं (अर्थात् अनादि अनन्त है)।

व्याख्या

आदिगुरु सर्वज्ञ ईश्वर—ईश्वर सर्वज्ञ है। अत: उसके लिए कुछ भी अज्ञात नहीं है। उसके लिए न कोई भूत है, न भविष्यत्, सब वर्तमान है। विज्ञान-सम्मत सिद्धान्त है कि अस्तित्व का कभी अभाव नहीं होता और अभाव का कभी अस्तित्व नहीं हो सकता; जो कभी है और कभी नहीं है—वह अस्तित्व का आभास हो सकता है। पुरुष और ईश्वर सदा ही रहते हैं। अत: वे दोनों सर्वज्ञ हैं किन्तु पुरुष की सर्वज्ञता अविद्या के कारण छिपी रहती है, अविद्या दूर होने पर उसकी सर्वज्ञता प्रकट हो जाती है। ईश्वर में अविद्या कभी भी नहीं होती। अत: उसकी सर्वज्ञता तो सदा ही प्रकट रहती है।

योग सूत्र एक अनुमान द्वारा सर्वज्ञता की सिद्धि करते हैं। हमारे ज्ञान में तारतम्य रहता है—कोई कम जानता है, कोई अधिक जानता है। इस तारतम्य से यह अनुमान किया जा सकता है कि कोई ऐसा भी होगा जिससे अधिक कोई भी न जानता हो। ऐसा कोई सर्वज्ञ ही हो सकता है—**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्**। यह सर्वज्ञ की अनुमान द्वारा सिद्धि की प्रक्रिया है। नियम यह है कि अनुमान से सामान्य ज्ञान होता है विशेष ज्ञान नहीं। विशेष ज्ञान तो प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है। ईश्वर का प्रत्यक्ष

ऐन्द्रिकज्ञान द्वारा तो होता नहीं अतः उसका ज्ञान योगज प्रत्यक्ष द्वारा ही हो सकता है। ईश्वर के संबंध में तब तक सन्देह बना ही रहेगा जब तक समाधि में उसका साक्षात्कार नहीं कर लिया जाता। जब तक ऐसा साक्षात्कार न हो तब तक ईश्वर की सर्वज्ञता का ज्ञान आगम प्रमाण से करना चाहिए, जैसा कि श्रुति कहती है—**यः सर्वज्ञः सर्ववित् इत्यादि।**

वस्तुतः सर्वज्ञता की आवश्यकता है। मनुष्य जन्म से कुछ भी सीखा हुआ नहीं होता। उसे दूसरे ही चलना, बोलना आदि सिखाते हैं। जो हमें कुछ भी सिखाता है, वह हमारा गुरु कहलाता है। यदि हमें कोई कुछ सिखाये नहीं तो हमारा जीवन दूभर हो जाए। इसलिए सिखाने वाले की अर्थात् गुरु की इतनी महिमा है कि गुरु को ब्रह्मा, विष्णु और महेश ही नहीं, परब्रह्म भी कह दिया गया है। प्रश्न होता है कि सृष्टि के आदि में उत्पन्न होने वाले मनुष्य को किसने ज्ञान दिया। उससे पहले तो कोई मनुष्य था नहीं जो ज्ञान देता। अगत्या यह मानना होगा कि वह ज्ञान मनुष्य को ईश्वर से ही मिला। दूसरा प्रश्न होता है कि ईश्वर ने कौनसा ज्ञान दिया? स्पष्ट है कि ईश्वर ने सारा ही ज्ञान दिया, यदि वह कोई भी ज्ञान न देता तो वह ज्ञान कहाँ से आता। यह भी स्पष्ट है कि यदि ईश्वर सर्वज्ञ न हो तो सारा ज्ञान कैसे दे सकता है? अतः जो भी ज्ञान है वह सर्वप्रथम तो सर्वज्ञ ईश्वर द्वारा ही मनुष्य को प्राप्त हुआ। फिर जिन ब्रह्मा आदि को वह ज्ञान प्राप्त हुआ उन्होंने अगली पीढ़ी को वह ज्ञान दे दिया। अगली पीढ़ी ने अपने से अगली पीढ़ी को वह ज्ञान दे दिया। इस प्रकार पीढ़ी-दर-पीढ़ी वह ज्ञान हम तक आया। हमें तो वह ज्ञान अपने गुरु से मिला। हमारे गुरु को वह ज्ञान अपने गुरु से। किन्तु प्रथमतः तो वह ज्ञान ईश्वर से ही प्राप्त हुआ था। अतः ईश्वर गुरुओं का भी गुरु, परमगुरु है। और सब गुरुओं ने ज्ञान प्राप्त किया किसी अन्य गुरु से, किन्तु ईश्वर से

पहले कोई गुरु ऐसा नहीं था जिससे ईश्वर ज्ञान प्राप्त करता; क्योंकि ईश्वर तो अनादि है। अतः ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है और उसका कोई गुरु नहीं है। उसकी सर्वज्ञता अनादि और स्वतःसिद्ध है, अन्य गुरुओं की सर्वज्ञता अविद्यादि के दूर होने पर प्रकट होने के कारण सादि और परतः प्राप्त है। स्पष्ट है कि यदि ईश्वर में किसी भी ज्ञान का अभाव होगा तो वह ज्ञान फिर संसार में हो ही नहीं सकता। अतः ईश्वर में किसी भी ज्ञान का अभाव नहीं है। ईश्वर का यह ज्ञान वेदों में निहित है। प्रश्न होता है कि वेद तो सीमित शब्दराशि है। उसमें सारा ज्ञान कैसे समा सकता है। यह सत्य है कि जिसे हम वेद कहते हैं वह सीमित है, किन्तु यह वेद शब्दात्मक है। ये शब्द जिस तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वह तत्त्व भी वेद है। प्रथम वेद, जिससे हम सुपरिचित हैं, शब्दवेद है, जबकि दूसरा वेद तत्त्ववेद है।

क्या वेदों में सारा ज्ञान है—क्या वेदों में सारा ज्ञान है? इस प्रश्न पर विचार करने से पहले हम तीन शब्दों के अर्थों पर विचार करें—ऋक्, यजु और साम। ऋक् एक ऊर्जा है जिससे किसी भी पदार्थ के पिण्ड का निर्माण होता है। यजु दूसरी ऊर्जा है जिससे पदार्थ में गति उत्पन्न होती है। साम तीसरी ऊर्जा जिससे किसी पदार्थ का आभामण्डल बनता है, जिसके कारण हम उस पदार्थ को जान सकते हैं, जिस पदार्थ का वह आभामण्डल है। ऋक् का सम्बन्ध अग्नि से है, यजु का वायु से तथा साम का आदित्य से। पुनरपि अग्नि का सम्बन्ध भू से है, वायु का भुवः से तथा आदित्य का स्वः से। पुनरपि भू का सम्बन्ध प्राण से है, भुवः का सम्बन्ध अपान से है तथा स्वः का सम्बन्ध व्यान से है। इस प्रकार ऋक्, यजु और साम की त्रयी, अधिभूत, अधिदैव तथा अध्यात्म में व्याप्त हो रही है।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि जिस वेद में ऋक् का ज्ञान है उसे ऋग्वेद, यजु के ज्ञान देने वाले वेद को यजुर्वेद तथा साम के ज्ञान देने वाले वेद को सामवेद कहते हैं। इन तीन वेदों में तीनों लोक, तीनों देव तथा तीनों प्राणों का ज्ञान समाहित है। यह एक प्रकार है, यह समझने के लिए कि वेदों में सारा ज्ञान कैसे है।

दूसरी प्रकार से समझें तो संसार के सभी पदार्थों के तीन घटक हैं—अर्थ, क्रिया और ज्ञान। ऋग्वेद से अर्थ का, यजुर्वेद से क्रिया का तथा सामवेद से ज्ञान का ज्ञान हो जाता है। फिर कुछ भी जानने के लिए शेष नहीं रह जाता।

तीसरी प्रकार से समझें। संसार की सभी विविधता के मूल में एक ही तत्त्व है। वह एक तत्त्व घनता, तरलता और विरलता के रूप में त्रिविध हो जाता है। जैसे—अग्नि ही घन रूप में अग्नि, तरल रूप में वायु तथा विरल रूप में आदित्य हो जाता है। इस घन-तरल-विरल के क्रम को समझने पर पूरा विश्व समझ में आ जाता है। उदाहरणतः वाक् घन है, प्राण तरल है, मन विरल है। इस क्रम का इतना विस्तार किया जा सकता है कि उससे कुछ भी शेष नहीं छूटता। घन ऋक् का विषय है, तरल यजु का तथा विरल साम का विषय है। इसलिए शास्त्र बारम्बार घोषित करते हैं कि त्रयी में समस्त विश्व समाहित है। इसे भी समझना चाहिए। एक बालक को हम पूरी वर्णमाला तथा बारहखड़ी पढ़ा कर शब्द जोड़ना सिखा देते हैं तो कह देते हैं कि उसे पूरी भाषा लिखनी-पढ़नी आ गई। उसे प्रत्येक शब्द अलग-अलग नहीं पढ़ाना पड़ता। जो भी शब्द बनेगा वह बारहखड़ी के ही संयोग से बनेगा। बारहखड़ी आ गई तो सब शब्द आ गए। वेद ज्ञान की बारहखड़ी है। ज्ञान की बारहखड़ी सीख ली तो सारा ज्ञान सीख लिया। इसका यह अर्थ नहीं समझना

चाहिए कि वेद में मिसाइल बनाने का तरीका दिया हुआ है। वस्तुतः मिसाइल बनाने का ज्ञान कोई एक ज्ञान नहीं है, अपितु अनेक ज्ञानों की समष्टि है। उसमें गणित, भौतिक, इंजीनियरिंग आदि अनेक ज्ञान समाहित हैं। फिर गणित के ज्ञान में भी रेखागणित, बीजगणित, अङ्कगणित आदि अनेक ज्ञान सम्मिलित हैं। इस प्रकार किसी भी ज्ञान के घटक गिनते जायें तो जो अन्तिम घटक आएगा वह तीन ही प्रकार का होगा—पिण्ड, क्रिया और तेज। वेद इन तीनों का मौलिक ज्ञान देता है। जब विज्ञान आया तो विद्वानों ने वैज्ञानिक आविष्कारों को वेद में ढूँढना आरम्भ कर दिया। वेद-भक्तों ने कहना भी शुरू किया कि वेद में अमुक आविष्कार पहले से ही था। अब यदि कोई कहे कि वेद में कम्प्यूटर अथवा मोबाइल फोन बनाने का तरीका लिखा है तो वह उपहास का ही पात्र बनेगा। वेदों में वह मूलभूत ज्ञान है जिससे समस्त ज्ञान उपजते हैं। मनु के यह कहने का यही आशय था कि सब वेद से प्रसिद्ध होता है—**सर्वं वेदात्प्रसिध्यति**।

सूत्र—तस्य वाचकः प्रणवः॥ १.२७॥

अर्थ—उस (ईश्वर) का वाचक ओ३म् है।

सूत्र—तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ १.२८॥

अर्थ—उस (ओ३म्) के जप का आशय है—उसके अर्थ का चिन्तन।

व्याख्या

एक ओङ्कार सतनाम—ईश्वर की करुणा का कोई पारावार नहीं। जिनकी विस्तार में रुचि है उनके लिए तो एक लाख मन्त्र-परिमाण के वेद ईश्वर ने बनाए ही किन्तु जिनके पास चारों वेद पढ़ने का समय

नहीं उनके लिए चारों वेदों का सार एक छोटे से पद में दे दिया। वह पद है—ओ३म्। यह पद तीन अक्षरों को जोड़कर बना है—अ, उ तथा म्। इन तीन अक्षरों में ऋक्, यजु तथा साम का सार आ गया। इसलिए ओ३म् पद की इतनी महिमा है कि इस पद को ईश्वर का वाचक मान लिया—**तस्य वाचकः प्रणवः**।

योगियों का कहना है कि जब हम पूर्णतः शान्त होते हैं, हमारे मन में कोई सङ्कल्प-विकल्प नहीं चल रहा होता, तब भी एक सूक्ष्म ध्वनि सुनाई देती है। वह ध्वनि ओङ्कार की ही ध्वनि होती है। यह ध्वनि स्वाभाविक है किन्तु केवल प्रशान्तचित्त योगी ही इसे सुन पाते हैं। इसे सुनने के लिए जितना प्रशान्तचित्त चाहिए उतना प्रशान्तचित्त उसी का हो सकता है जिसे अपना चित्त ईश्वर पर केन्द्रित कर दिया। इस प्रकार ईश्वर और ओङ्कार के बीच वाच्य-वाचक का स्वाभाविक सम्बन्ध माना जाता है।

बिना किसी प्रयत्न के समाधि की अवस्था में ओङ्कार की जो ध्वनि सुनाई देती है, उसे परावाक् कह सकते हैं। अ, उ तथा म् के उच्चारण के अनन्तर में जो मौन होता है, उसकी कोई मात्रा नहीं है। इस अवस्था को तुरीय अवस्था अर्थात् चतुर्थ अवस्था कहा जाता है, क्योंकि यह जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति नामक तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। माण्डूक्योपनिषद् में इस अवस्था को अमात्र, चतुर्थ, अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव तथा अद्वैत कहा है। यह अवस्था शब्दातीत है। अतः इसे मौन द्वारा ही कहा और समझा जा सकता है।

समाधि की उपर्युक्त अवस्था के अतिरिक्त शेष तीन अवस्थाओं का अनुभव हम सबको होता है। उन्हीं तीन अवस्थाओं के सूचक, अ, उ तथा म् हैं। हम अपने पहले सूत्र की व्याख्या में त्रयी का थोड़ा सा

विस्तार देखें। इससे स्पष्ट हो जाएगा कि कैसे ओङ्कार में सारे वेद समाहित हैं। सर्वप्रथम हमें अपना स्थूल शरीर तथा संसार का स्थूल पर्वतादि रूप दृष्टिगोचर होता है। ओङ्कार का अकार इसी स्थूल जगत् का सूचक है। व्यष्टि के स्थूल शरीर को विश्व तथा संसार के स्थूल रूप को विराट् कहा जाता है। यह जागृत अवस्था का विषय है। अग्नि इस अवस्था का अधिष्ठाता है। दूसरी अवस्था स्वप्न की है। इसमें सूक्ष्म शरीर सक्रिय रहता है जिसके कारण हमें स्वप्न में भी काल्पनिक पदार्थों का ज्ञान होता रहता है। व्यष्टि में यह तैजस अथवा सूक्ष्म शरीर है तथा समष्टि में यही हिरण्यगर्भ कहलाता है। उकार इस अवस्था का सूचक है। इसका अधिष्ठाता वायु है। तृतीय अवस्था सुषुप्ति की है। मकार इस अवस्था का सूचक है। व्यष्टि में यह कारण शरीर तथा समष्टि में ईश्वर है। इसका अधिष्ठाता आदित्य है। तुरीय अवस्था शब्दातीत है—यह हम प्रारम्भ में ही कह चुके हैं। यह अमात्र है। ओङ्कार का वैखरी वाणी से जप करते समय विश्व विराट् की उपासना करता है। इसे योग सूत्र में सम्प्रज्ञात समाधि कहा गया है, जहाँ स्थूल भूतों पर चित्त एकाग्र किया जाता है। मध्यमा वाणी से अर्थात् मानसिक जप करते समय ओङ्कार के माध्यम से साधक तैजस हिरण्यगर्भ की उपासना करता है। योगसूत्र इसे विचारानुगत तथा आनन्दानुत सम्प्रज्ञात समाधि कहता है। पश्यन्ती वाणी में जब मानसिक प्रयत्न भी नहीं रहता और अनायास जप चलता है जब अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि तथा विवेकख्याति की स्थिति समझनी चाहिए। उस समय प्राज्ञ ईश्वर की उपासना करता है।

जब विवेकख्याति नामक चित्तवृत्ति का भी निरोध हो जाता है, तब असम्प्रज्ञात समाधि और स्वरूपावस्थिति अथवा कैवल्य प्राप्त होता है। यही अमात्रिक ओङ्कार का स्वरूप है। संभवतः संसार की किसी

भाषा का कोई पद अपने में इतना अर्थ-गाम्भीर्य लिए नहीं है जितना यह ओङ्कार पद। वेद की दृष्टि से यह ऋक्, यजु, साम का सूचक है, देवों की दृष्टि से अग्नि, वायु, आदित्य का सूचक है, जीव की दृष्टि से यह जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति का सूचक है, समष्टि की दृष्टि से विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर का सूचक है, योग की दृष्टि से सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात और विवेकख्याति का सूचक है, उपासना की दृष्टि से कर्म, उपासना और ज्ञान का सूचक है, गुणों की दृष्टि से तमस्, रजस् और सत्त्व का सूचक है।

ईश्वरोपासना से रोग-निवारण—एक साधारण सा प्रयोग करें। अपने दोनों हाथों की तर्जनी से दोनों कानों के छिद्रों को बन्द कर लें। तब शरीर के अन्दर से एक अस्फुट ध्वनि आती हुई सुनाई पड़ेगी। यह ध्वनि शरीर में विद्यमान वैश्वानर अग्नि की है। यह ध्वनि हमारे किसी प्रयत्न के बिना हमारे अन्दर हो रही है, वैसे ही एक ध्वनि बिना किसी प्रयत्न के पूरे ब्रह्माण्ड में भी हो रही है। यह ध्वनि ओङ्कार की ध्वनि है। यदि हमारा मन पूरी तरह शान्त हो जाए—उसमें कोई सङ्कल्प-विकल्प न रहे—तो ओङ्कार की यह ध्वनि सुनाई देगी। योगियों का मन पूर्णतः शान्त होता है, अतः उन्हें ओङ्कार की ध्वनि सुनाई देती है। क्योंकि वह ध्वनि कण्ठ-तालु आदि स्थानों पर जिह्वादि की चोट किए बिना ही उत्पन्न हो जाती है। अतः इसे आहत किए बिना उत्पन्न होने वाला अर्थात् अनाहत नाद कहा जाता है; क्योंकि हमारे बिना जपे ही ओङ्कार का यह जप निरन्तर चलता रहता है, अतः इसे ही अजपा-जप भी कहा जाता है। वेदान्ती श्वास-प्रश्वास के साथ होने वाली इस ध्वनि को सोऽहम् (मैं ही ब्रह्म हूँ) रूप मानते हैं। योगी श्वास-प्रश्वास से होने वाली ध्वनि से भी अधिक सूक्ष्म इस ध्वनि को ओम् रूप से सुनते हैं। सोऽहम् में से सकार तथा हकार के व्यञ्जन निकल जाएँ तो 'सोऽहम्' से ओऽम्

की ध्वनि ही शेष रह जाती है। ओम ईश्वर का मनुष्यकृत नाम नहीं है अपितु प्रकृतिकृत नाम है। जैसे ही चित्त ईश्वर के अर्थ पर केन्द्रित होता है, वैसे ही ओम् की ध्वनि स्वतः सुनाई पड़ने लगती है, किन्तु इसके लिए चित्त का क्लेश, कर्म, कर्मफल तथा वासना से रहित चैतन्यमय ईश्वर पर पूर्णतः केन्द्रित होना आवश्यक है।

संसार में दो चीजें सबसे अधिक शक्तिशाली हैं—ध्वनि और विद्युत्। ओम् की ध्वनि हमारे प्राणों के सञ्चरण को व्यवस्थित कर देती है। प्राणों के प्रवाह में जब कोई असन्तुलन अथवा अवरोध आ जाता है तो हम रुग्ण हो जाते हैं। ओम् की ध्वनि का प्रभाव इस असन्तुलन को सन्तुलित कर देता है, अवरोध को हटा देता है और हम रोग से मुक्त हो जाते हैं। ईश्वर का अर्थ है—सम्पूर्ण का स्वीकार, किसी का निराकरण नहीं। इसे ही ईश्वर की सर्वव्यापकता कहा जाता है। ओम् का नाद हमें सम्पूर्ण से जोड़ता है। हमें अखण्ड बनाता है। यह अखण्डता ही स्वास्थ्य है। जब हम सम्पूर्ण से जुड़ते हैं तो हम भी सम्पूर्ण बन जाते हैं, अपूर्ण नहीं रहते। अपूर्णता रोग है तो सम्पूर्णता स्वास्थ्य है।

विज्ञान से सिद्ध हो चुका है कि स्थूल शरीर में आने से पहले रोग अपने चिन्ह हमारे आभामण्डल में प्रकट कर देता है। आभामण्डल कहें, प्राण कहें, साममण्डल कहें—एक ही बात है। यह आभामण्डल सूक्ष्म प्राणमय है। सूक्ष्म पर सूक्ष्म ही प्रभाव डाल सकता है। ओम् का नाद सूक्ष्म है, यह सूक्ष्म ही प्राणमय आभामण्डल को विकृत होने से बचाता है। इसलिए ओम् को 'अवति' (रक्षा करता है) पद से निष्पन्न माना गया है। आभामण्डल को विकृत करने वाले तत्त्व हैं—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूप क्लेश, कर्म, कर्मफल तथा वासना। ईश्वर इन सभी तत्त्वों से अस्पृष्ट है। वस्तुतः हम भी इन तत्त्वों से

अस्पृष्ट ही हैं, किन्तु अज्ञानवश हमने इन तत्त्वों को औपाधिक सम्बन्ध से अपने में आरोपित कर लिया है। सदृश के ज्ञान से सदृश का ज्ञान हो जाता है। ईश्वर क्लेशादि से मुक्त है। उसका ध्यान हमें भी अपने शुद्ध स्वरूप प्रत्यगात्मा का ज्ञान करा देता है। हमें यह प्रतीति में आ जाता है कि अविद्या क्लेशों का हमसे औपचारिक सम्बन्ध है, वास्तविक नहीं। तब ये अविद्यादि दोष हमारे आभामण्डल को विकृत नहीं कर पाते। आभामण्डल के निर्मल होने पर प्राणों का सन्तुलित प्रवाह अबाध गति से चल निकलता है। तब हम स्वस्थ (अपने में स्थित) हो जाते हैं। अस्वस्थता योग में बाधक है, स्वास्थ्य सहायक है। ईश्वरोपासना अथवा ओङ्कारोपासना व्याधि को दूर करती है। योग के अन्य बाधक भी इससे दूर होते हैं।

सूत्र—ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ १.२९॥

अर्थ—पुनः (ईश्वरप्रणिधान से) जीवात्मा का ज्ञान होता है, विघ्नों का अभाव होता है।

व्याख्या

ईश्वर प्राणिधान का एक फल जीवात्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है। ईश्वर अविद्यादि क्लेशों से रहित है। उपासना का नियम है कि उपासक में उपास्य के गुण आ जाते हैं। ईश्वर के निर्मल स्वरूप का ध्यान करने पर साधक को स्वयं भी अपनी निर्मलता का बोध हो जाता है जो उसका वास्तविक रूप है। जीव की चेतना अविद्यादि से ग्रस्त है। ईश्वरोपासना से जीव के ये दोष दूर हो जाते हैं, क्योंकि इसे यह बोध हो जाता है कि वह शुद्ध-बुद्ध निरञ्जन स्वरूप है। जब चित्त का मल दूर होता है जो उस मल के कारण आने वाले योग के विघ्न भी दूर हो जाते हैं।

सूत्र—व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्ति-दर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ १.३०॥

अर्थ—व्याधि, अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन (योग की) भूमिका प्राप्त न होना तथा चञ्चलता—ये चित्त के विक्षेप (योग में) बाधक हैं।

सूत्र—दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ १.३१॥

अर्थ—दुःख, अन्यमनस्कता, अङ्गों का कम्पन, श्वास-प्रश्वास विक्षेपों के साथ होने वाले बाधक हैं।

व्याख्या

ईश्वरोपासना से योग की बाधाओं का निराकरण—योग में केवल रोग की बाधक नहीं है, अन्य भी अनेक बाधाएँ साधना नहीं करने देतीं। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि ये सभी बाधाएँ ईश्वरोपासना से दूर हो जाती हैं। ये बाधाएँ हैं—अकर्मण्यता, संशय, प्रमाद, आलस्य, विषय-तृष्णा, मिथ्याज्ञान, समाधि न लगना तथा समाधि का भङ्ग हो जाना। जिस प्रकार रोग की बाधा ईश्वरोपासना से दूर होती है, उसी प्रकार ये बाधाएँ भी ईश्वरोपासना से दूर होती हैं। ईश्वर तो अमूर्त्त है, उपासना के लिए उसका कोई मूर्त्त रूप चाहिए। ओम् ईश्वर की शब्दमयी मूर्ति है। यह मूर्ति भी मनुष्यकृत नहीं अपितु प्रकृतिकृत है—यह हम पहले बता चुके हैं। देखना यह है कि ओम् अथवा ईश्वर की उपासना उपर्युक्त बाधाओं को दूर कैसे करती है।

अकर्मण्यता प्रथम बाधा है। जिसका अर्थ है कि योग-साधना की इच्छा तो है किन्तु उसके करने में प्रवृत्ति नहीं होती। ईश्वर का ध्यान तत्काल चित्त को शुद्ध बनाता है। चित्त की यह शुद्धि इतनी आह्लादकारक होती है कि साधक बारम्बार योग में प्रवृत्ति होने के लिए उत्साहित हो जाता है और अकर्मण्यता दूर हो जाती है। योग से लाभ होगा या नहीं— यह संशय की स्थिति है। ईश्वरोपासना से जो शांति चित्त को मिलती है, वह इस संशय को भी दूर कर देती है। प्रमाद एक सम्मोहन है। मेरा धन है, बन्धु-बान्धव हैं, मेरी प्रतिष्ठा है, मैं विद्वान् हूँ आदि अनेक भाव व्यक्ति को सम्मोहित किये रहते हैं। ईश्वरोपासना से जब अपने असली ऐश्वर्य का ज्ञान होता है, तो यह सब सम्मोहन टूट जाते हैं, व्यक्ति अप्रमत्त हो जाता है। शरीर स्वभाव से ही तमोगुणी है। हमारे शरीर को आलस्य में पड़े रहना अच्छा लगता है। ईश्वर सत्त्वगुण प्रधान है। जैसे ही सत्त्व का आलोक बिखरता है, शरीर का तमोगुण उस आलोक से अभिभूत हो जाता है और आलस्य समाप्त हो जाता है।

मनुष्य सुख चाहता है। विषयों में उसे सुख मिलता भी है। किन्तु ईश्वरोपासना से जिस सुख की प्राप्ति होती है उसके सामने विषय सुख फीके पड़ जाते हैं और उनका आकर्षण समाप्त हो जाता है।

हम दिवास्वप्नों में जी रहे हैं। गहरे में हम सब शेखचिल्ली हैं। मनोराज्य में हम भ्रान्त कल्पनाएँ करते रहते हैं। शाश्वत केवल ईश्वर है, शेष सब क्षणभङ्गुर है। ईश्वर का ज्ञान ही क्षणभङ्गुर को स्थायी मान लेने की भ्रान्ति से मुक्त कर सकता है।

योग से चित्त की एकाग्रता बनती है किन्तु हम पुनः व्यग्र बन जाते हैं। इस व्यग्रता को भी ईश्वरोपासना का आकर्षक रूप ही समाप्त कर सकता है।

ईश्वरोपासना से योग की उपर्युक्त समस्त बाधाओं के निराकरण की बात पतञ्जलि ने की है। यह कैसे संभव होता है? थोड़ा विचार करना चाहिए। प्रथम तो ईश्वर निर्मलता की अवधारणा का मूर्त रूप है। मल हमारी प्रथम बाधा है जो विषय-तृष्णा, आलस्य आदि रूप में प्रकट होती है। निर्मलता मल की प्रतिबन्धक है। दूसरे, ईश्वर ज्ञानमूर्ति है। अतः वह अज्ञान-जनित संशय, भ्रान्ति आदि को दूर करता है। तीसरे, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। हममें जो अकर्मण्यता, अनवस्थितत्व आदि दोष ऊर्जा की न्यूनता के कारण आते हैं, ईश्वर की ऊर्जा उन दोषों को दूर कर देती है। ईश्वर सगुण है, निर्गुण नहीं। अतः वह स्वरूपतः ही दोषों का प्रतिपक्षी है।

पतञ्जलि दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गों की चञ्चलता तथा श्वास-प्रश्वास को भी योग में बाधक मानते हैं। जहाँ अङ्गों की चञ्चलता के लिए आसन तथा श्वास-प्रश्वास के लिए प्राणायाम विशेष उपयोगी है, वहाँ दुःख तथा दौर्मनस्य का उपाय कर्म-फल को ईश्वरार्पण कर देने में है। ईश्वर केवल न्यायकारी ही नहीं, परम दयालु भी है। जैसे ही हम अपने कर्म का फल उन्हें अर्पित करके स्वयं अहङ्कार से मुक्त होते हैं वैसे ही विष भी अमृत में बदल जाता है। तब दुःख दुःख न रहकर तपस्या बन जाता है और दौर्मनस्य सौमनस्य में बदल जाता है।

सूत्र—तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः॥ १.३२॥

अर्थ—उन (विक्षेपों) को दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

व्याख्या

ऊपर पहले सूत्रों में बताये गये सारे विक्षेप किसी एक तत्त्व पर चित्त को एकाग्र करने से दूर हो जाते हैं। ईश्वर-प्रणिधान तो विक्षेपों को

दूर करने का उत्तम उपाय है क्योंकि उससे विक्षेपों के निराकरण के साथ-साथ अपने शुद्ध रूप का भी बोध हो जाता है। किन्तु यदि साधक का ईश्वर में विश्वास न हो तो वह किसी भी अन्य तत्त्व पर अपना चित्त एकाग्र करने का अभ्यास कर सकता है। मुख्यता चित्त की एकाग्रता की है, किस पर चित्त एकाग्र किया जाये—यह मुख्य नहीं। इसलिये पतञ्जलि इसी पाद में ३४ से ३९ सूत्र तक चित्त की एकाग्रता के लिये अनेक आलम्बनों का प्रतिपादन करेंगे। आलम्बन के प्रति ऐसी दृष्टि पतञ्जलि की उदारता प्रदर्शित करता है।

सूत्र—मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ १.३३॥

अर्थ—सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा तथा पापात्माओं के प्रति क्रमशः मैत्री, करुणा, अनुमोदन तथा उपेक्षा की भावना रखने से निर्मलता होती है।

व्याख्या

योगी की भावनाएँ—अनेक साधक ईश्वरोपासना करते हैं तो इससे उनके मन को थोड़ी देर के लिए शांति भी मिलती है किन्तु उनका मन पुनः अशांत हो जाता है। प्रश्न है कि क्या साधक को ईश्वपरोपासना के अतिरिक्त चित्त की प्रसन्नता के लिए कुछ और भी करना चाहिए। अधिकतर साधक ईश्वरोपासना तो कुछ निश्चित समय तक ही कर पाते हैं, शेष समय तो उनका मनुष्यों के सम्पर्क में ही बीतता है। अतः ईश्वरोपासना ही पर्याप्त नहीं है, साधक को यह भी ध्यान रखना होगा कि वह मनुष्यों के प्रति कैसी भावना रखे। मनुष्य भी सब एक जैसे नहीं हैं। कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई पुण्यात्मा है, कोई पापात्मा है। संसार में सभी प्रकार के मनुष्य हैं, यह संभव नहीं है कि हम केवल सुखी और

पुण्यात्माओं के ही सम्पर्क में रहें, हमें दुःखी और पापात्मा भी मिलेंगे ही। ऐसे में क्या हम दुःखी को देखकर दुःखी होते रहें तथा पापात्माओं को देख उनसे घृणा ही करते रहें? यदि हम ऐसा करेंगे तब तो हम दुःख और घृणा से ही भर जायेंगे। फिर चित्त की शान्ति कहाँ से मिलेगी।

पतञ्जलि शांति की अपेक्षा प्रसाद शब्द का प्रयोग करते हैं। प्रसाद शब्द के दो अर्थ है—प्रसन्नता और निर्मलता। निर्मल चित्त ही प्रसन्न रह सकता है। पतञ्जलि कहते हैं कि सुखी के प्रति मैत्री, दुःखी के प्रति करुणा, पुण्यात्मा के प्रति प्रमोद तथा पापात्माओं के प्रति उपेक्षा का भाव रखने से चित्त निर्मल तथा प्रसन्न रहता है।

अभिप्राय यह है कि जो तत्त्व चित्त को मलिन बनाते हैं, वही तत्त्व चित्त को दुःखी भी बनाते हैं। चित्त को मलिन बनाने वाले तत्त्वों में प्रथम तत्त्व है—ईर्ष्या। जो भी हमारी अपेक्षा अधिक सुखी होता है, उसे देखकर हमारे मन में यह भाव आता है कि हमें यह सुख क्यों नहीं प्राप्त हुआ। हम सोचते हैं कि वह सुखी व्यक्ति अनुचित उपायों से समृद्ध हो गया है। इस प्रकार हम अपने अहङ्कार की पुष्टि कर लेते हैं कि समृद्ध नहीं हैं तो क्या, हम अनुचित उपाय तो नहीं बरतते। हमें दूसरे के गुण भी दोष ही नजर आते हैं। इसे असूया कहते हैं। यह ईर्ष्या और असूया चित्त को मलिन और दुःखी बनाये रहते हैं। इस दुःख से बचने का उपाय है कि हम दूसरों के सुख में अपना सुख मानें। इसे ही मैत्री कहा गया है। मैत्री भावना का अद्भुत प्रभाव है। प्रातः उन्मुक्त वातावरण में पक्षी चहचहाते हैं, जिसमें मैत्री भावना होती है वह कहता है कि देखो पक्षी कैसे सुन्दर कलरव कर रहे हैं। जिसमें मैत्री नहीं होती वह कहता है कि इन पक्षियों ने सवेरे ही सवेरे चूँ चूँ करके जान खा रखी है। वस्तुतः जो

ऐसा कहता है उसे पक्षियों की स्वतंत्रता से ईर्ष्या होती है। उसे उनका संगीत भी बेसुरा प्रतीत होता है। उसे संसार में किसी का भी सुख नहीं सुहाता। यह रुग्ण मन का प्रतीत है। बोलचाल की भाषा में इसे ही चिड़चिड़ा स्वभाव कहते हैं।

साधक को दुखियों के प्रति करुणा का भाव रखना चाहिए। योगसूत्र में दु:ख और क्लेश में अन्तर किया गया है। भौतिक सुविधा के अभाव में दु:ख होता है, ज्ञान के अभाव में क्लेश होता है। क्लेश कारण है, दु:ख उसका कार्य है। करुणा केवल दु:ख के निवारण तक सीमित नहीं है, वह क्लेश के निवारण का भी उपाय करती है। क्लेश न रहे तो दु:ख तो स्वत: ही दूर हो जाता है। क्लेश बना रहे तो दु:ख एक बार दूर भी हो जाए, तो पुन: पैदा हो जाता है। अत: वास्तविक करुणा क्लेशों को दूर करने में है। डरना दु:ख से नहीं, क्लेश से चाहिए। दु:खी के प्रति साधक का यह भाव होना चाहिए कि वह करुणापूर्वक उसके अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी पाँच क्लेशों को दूर करे। यही परोपकार का सच्चा स्वरूप है। पुण्यात्मा के प्रति प्रमोद का भाव रखना चाहिए। इसका अर्थ है कि हमारा पुण्य के प्रति आकर्षण है। यह आकर्षण हमें भी पुण्यात्मा बना देता है। पापात्मा के प्रति उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। पापात्मा के प्रति प्राय: हमारा दृष्टिकोण घृणा का होता है। यह घृणा दो रूपों में प्रकट होती है। एक तो हमारे मन में पापात्मा के प्रति क्रोध आता है, दूसरा हम उसका अपकार करना चाहते हैं। यह दोनों ही भाव साधक के लिए ठीक नहीं हैं। उपेक्षा का अर्थ है कि पापात्मा अपने पाप से स्वयं ही अपनी हानि कर लेता है, अत: हमें कोई हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं है। वस्तुत: जब हम पापात्मा के

प्रति क्रोध करते हैं, तो उसे महत्त्व प्रदान करते हैं। पापात्मा का सबसे अच्छा उपचार यह है कि उसकी ओर ध्यान ही न दिया जाए।

सूत्र—प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ १.३४॥

अर्थ—प्राण के (वायु को नासिका से) बाहर फेंकने अथवा बाहर रोकने से भी (मन को स्थिर बनायें)।

व्याख्या

प्राणायाम का प्रयोजन—चित्त की निर्मलता, प्रसन्नता और एकाग्रता का एक साधन प्राणायाम भी है। प्राणायाम का शब्दार्थ है—प्राण का आयाम अर्थात् विस्तार। सामान्यत: हम श्वास-नि:श्वास की वायु को प्राण समझते हैं किन्तु वस्तुत: प्राण वह शक्ति है जो श्वास को अन्दर खींचती है तथा बाहर निकालती है। और भी अधिक व्यापक दृष्टि से देखें तो प्राण वह शक्ति है जो सभी क्रियाओं की जननी है। प्राणशक्ति के बिना कोई भी क्रिया संभव नहीं।

वेदविज्ञान के अनुसार आत्मा के तीन घटक हैं—वाक्, प्राण और मन। इन तीनों घटकों का उल्लेख शतपथ ब्राह्मण के चतुर्दश काण्ड अथवा बृहदारण्यकोपनिषद् में आया है। वाक् आकाश का गुण होने के कारण पञ्चमहाभूतों का उपलक्षण है। प्राण एक रज्जु के समान है जिसके एक छोर पर पञ्चभूतात्मक स्थूल शरीर है तथा दूसरे छोर पर सूक्ष्म मन है। प्राण शरीर और मन के बीच रह कर इन दोनों को पकड़े है। यह न तो शरीर जितना स्थूल है, न मन जितना सूक्ष्म। इसलिए वह शरीर और मन दोनों को पकड़ सकता है। प्राण की इस शक्ति को प्राणायाम करके कोई भी साधक तत्काल देख सकता है। जैसे ही हम रेचक, पूरक या कुम्भक प्राणायाम करते हैं, शरीर और मन की गतिशीलता स्वयं ही थम

सी जाती है। मन स्थिर करना ही तो योग का लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति में प्राणायाम अत्यन्त सहायक हो सकता है। वस्तुत: बौद्ध परम्परा में तो आनापान सती नाम से एक पृथक् ध्यान पद्धति ही प्रचलित है। प्रसिद्ध है कि जहाँ-जहाँ श्वास जाता है, वहाँ-वहाँ ही मन जाता है। श्वास के नियंत्रण से मन भी नियंत्रित हो जाता है। हमारी क्रियाएँ तीन प्रकार की हैं—१. स्वैच्छिक, २. अर्द्धस्वैच्छिक, ३. अस्वैच्छिक। हाथ-पैर इत्यादि का हिलाना स्वैच्छिक है—चाहूँ तो हिलाऊँ, चाहूँ तो न हिलाऊँ। नाड़ी (नब्ज) का चलना अस्वैच्छिक है, वह स्वत: ही चलती है, मैं चाहूँ तो भी उसे रोक नहीं सकता। (कुछ सिद्ध योगी इसके अपवाद हो सकते हैं, वे नाड़ी का चलना रोक भी लेते हैं, किन्तु यह अपवाद ही है।) श्वास-नि:श्वास की स्थिति मध्यवर्ती है। वैसे तो साँस स्वयं भी चलती रहती है, मुझे कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता, किन्तु चाहूँ तो थोड़ी देर के लिए उसे रोक भी सकता हूँ। मन की गति भी अर्द्धस्वैच्छिक है। मन यूँ तो मेरे बिना चाहे भी गति करता रहता है, किन्तु इच्छा का प्रयोग करके मैं उसकी गति भले थोड़े समय के लिए ही सही, रोक भी सकता हूँ। इस प्रकार प्राण तथा मन दोनों ही अर्द्धस्वैच्छिक गति वाले हैं। इसी बात का लाभ उठाकर यदि साधक प्राण की गति को स्वैच्छिक बना ले, अर्थात् स्वाभाविक गति से भिन्न, दीर्घ गति वाला कर ले, तो मन की गति पर भी उसका नियंत्रण हो जाता है। यही प्राणायाम का महत्त्व है। फेफड़े इत्यादि में पर्याप्त ऑक्सीजन पहुँचना इत्यादि तो प्राणायाम के आनुषङ्गिक लाभ हैं, मुख्य लाभ नहीं। साधनपाद नामक द्वितीय पाद में भी अष्टाङ्ग योग का वर्णन करते समय प्राणायाम का योग के एक अङ्ग के रूप में उल्लेख होगा। यहाँ प्रथम पाद में प्राणायाम का उल्लेख उत्तम अधिकारी के लिए तथा द्वितीय पाद में मध्यम अधिकारी

के लिए है। उत्तम अधिकारी तो चित्त की चञ्चलता को मिटाने का ही एकमात्र उद्देश्य लेकर चलता है जबकि मध्यम अधिकारी के मन में स्वास्थ्यलाभ अथवा रोगनिवारण भी लक्ष्य रह सकता है। श्वास को स्वतन्त्र छोड़ने का अर्थ है, जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों की पिटी-पिटायी लकीर पर चलना। जैसे ही हम श्वास पर नियंत्रण करते हैं, जन्म-जन्मान्तर के संस्कारों के विरुद्ध एक प्रकार का संघर्ष चालू हो जाता है। यह संघर्ष जितना तीव्र होगा संस्कार उतनी जल्दी क्षीण होंगे। प्राणायाम की यही उपयोगिता है। संस्कारों का श्वास-नि:श्वास से सम्बन्ध कोई भी साधक स्वयं अनुभव कर सकता है। यदि वह शांत मुद्रा में है तो उसके श्वास की गति मन्द होगी, यदि वह क्रुद्ध हो जाए तो स्वयं ही उसके श्वास की गति तीव्र गति से चलने लगेंगे। इसका उल्टा भी इतना ही सही है। यदि हम श्वास को मन्द कर लें तो हमारा मन भी शांत हो जाएगा। वशिष्ठ ऋषि का कथन है कि चित्त रूपी वृक्ष के दो बीज हैं—प्राणों का स्पन्दन और वासना। यदि इन दोनों में कोई एक भी क्षीण हो जाए तो दूसरा भी स्वत: ही क्षीण हो जाता है। हमने कहा है कि प्राण वह शक्ति है जो किसी भी क्रिया के लिए आवश्यक है। इन्द्रियाँ भी अपने कार्य में प्राण की शक्ति से ही व्याप्त होती हैं। फलत: प्राण के निरोध से इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है।

प्राणायाम एक व्यावहारिक प्रयोग है जिसे गुरु सामने बैठकर ही सीखा जाये तो ठीक है। कोई लेख पढ़कर प्राणायाम या आसन करने लगना ठीक नहीं है। प्रायोगिक स्वरूप तो गुरु के सामने बैठकर ही सीखना चाहिए।

सूत्र—विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः
स्थितिनिबन्धिनी॥ १.३५॥

अर्थ—अथवा (गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द) विषयोंवाली प्रवृत्ति पैदा होकर मन की स्थिति को स्थिर बनाती है।

सूत्र—विशोका वा ज्योतिष्मती॥ १.३६॥

अर्थ—अथवा शोकरहित ज्योतिर्मयी (प्रवृत्ति पैदा होकर मन की स्थिति को स्थिर बनाती है।)

व्याख्या

दिव्य अनुभव—योग एक रहस्य विद्या है। महर्षि पतञ्जलि अपने योग-सूत्र में उस रहस्य-विद्या के रहस्यों को वैज्ञानिक ढंग से अनावृत्त करने का पूरा प्रयत्न रह रहे हैं। फिर भी रहस्य आखिर रहस्य है—साधना के बिना वे रहस्य ही बने रहते हैं। कठिनाई यह है कि श्रद्धा के बिना योग में सफलता नहीं मिल सकती और साधना के बिना उन तत्त्वों का साक्षात्कार नहीं हो सकता, जिन पर श्रद्धा करने की आवश्यकता है। पतञ्जलि ने इस कठिनाई को दूर करने का एक उपाय खोजा। प्रारम्भ में हम आत्मा जैसे अत्यन्त रहस्यमय विषयों के स्थान पर अपेक्षाकृत कुछ कम रहस्यमय विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित करें। यदि वे कुछ कम रहस्यमय विषय हमारे अनुभव में आ जाएँगे तो अधिक रहस्यमय विषयों पर भी हमारी श्रद्धा टिकने की सम्भावना बन जाएगी।

पाँच भूत प्रसिद्ध हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। इनके पाँच गुण भी प्रसिद्ध हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द। ये पाँचों गुण क्रमशः नासिका, जिह्वा, चक्षु, स्पर्श तथा श्रोत्र इन्द्रियों का विषय बनते हैं। किन्तु पृथ्वी आदि के गन्ध आदि गुण तब ही नासिका आदि से

गृहीत होते हैं जब पृथ्वी आदि तत्त्व अपने स्थूल रूप अर्थात् भूत रूप में हों। यदि पृथ्वी अपने सूक्ष्म रूप में अर्थात् तन्मात्रा रूप में है तो पृथ्वी तन्मात्रा की गन्ध नासिका की पकड़ में नहीं आएगी। मानना होगा कि यदि स्थूल रूप में पृथ्वी में गन्ध है, तो पृथ्वी के सूक्ष्म रूप में भी गन्ध होनी चाहिए। योग सूत्र में उस पृथ्वी के सूक्ष्म रूप अर्थात् पृथ्वीतन्मात्रा की गन्ध को पकड़ने का उपाय बताया है। ऐसे ही अन्य तन्मात्राओं के भी गुणों को पकड़ा जा सकता है। विशेषता यह है कि स्थूल गन्ध लौकिक है जबकि यह सूक्ष्म गन्ध दिव्य है। स्थूल गन्धादि त्रिगुणात्मक है। अतः उनसे सुख, दुःख और मोह तीनों उत्पन्न हो सकते हैं किन्तु दिव्य गन्धादि शुद्ध सत्वरूप है। अतः उनसे केवल सुख ही उत्पन्न होता है।

दिव्य गन्ध का साक्षात् अनुभव करने के लिए नासिका के अग्र भाग पर अपने चित्त को एकाग्र करना चाहिए। इसी प्रकार दिव्य रस की अनुभूति के लिए जिह्वा के अग्र भाग पर, दिव्य रूप की संवित् के लिए तालु में, दिव्य स्पर्श के लिए जिह्वा के मध्य में तथा दिव्य शब्द के लिए जिह्वा के मूल में चित्त को एकाग्र करना चाहिए। यद्यपि शास्त्र तथा आचार्य के उपदेश से भी सूक्ष्म पदार्थों में श्रद्धा उत्पन्न होती है तथापि वह श्रद्धा परोक्ष जैसी ही होने से सुदृढ़ नहीं होती। प्रत्यक्ष कर लेने पर वह श्रद्धा दृढ़ हो जाती है।

आज दूरदर्शन जैसे तथा मोबाइल फोन जैसे यंत्रों के कारण सूक्ष्म रूप तथा सूक्ष्म शब्द के अस्तित्व के विषय में कोई संदेह नहीं रह गया तथापि यन्त्र द्वारा जब सूक्ष्म विषय का ज्ञान होता है तो वह विषय दिव्य न होकर लौकिक ही रहता है क्योंकि उसमें सुख के अतिरिक्त दुःख तथा मोह उत्पन्न करने की भी सम्भावना बनी रहती है। अतः उसका ज्ञान इतना आकर्षक नहीं होता, जितना दिव्य गन्धादि का। फलतः

वे चित्त को उस प्रकार एकाग्र नहीं कर पाते जिस प्रकार दिव्य गन्धादि विषय। इससे अगले सूत्र में पतञ्जलि एक दिव्य ज्योति के साक्षात्कार की चर्चा करते हैं। यह ज्योति भी शोक के संस्पर्श से रहित होने के कारण सत्व गुणात्मक है। इस ज्योति के साक्षात्कार से भी मन स्थिर हो जाता है। बुद्धि में सत्व गुण प्रधान है और सत्व गुण ज्ञानरूप होने से प्रकाशात्मक है। अतः शोक रहित ज्योति के साक्षात्कार का अर्थ है—बुद्धि सत्व का साक्षात्कार। इस ज्योति के साक्षात्कार के लिए साधक को हृदय रूपी कमल में अपना चित्त एकाग्र करना चाहिए। बुद्धि सत्व देदीप्यमान आकाश जैसा है। यदि वहाँ चित्त एकाग्र हो जाए तो सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र अथवा मणि जैसी प्रभा का दर्शन होता है। यही प्रयोग बाद में आगे चलकर 'मैं हूँ' इत्याकारक अस्मिता का भी दर्शन करा देता है। इन सब प्रयोगों के विषय में प्रथम तो ध्यातव्य यह है कि ये प्रयोग उत्तम अधिकारी के लिए हैं। यदि साधक को इन प्रयोगों में सफलता न मिले तो उसे अपने को मध्यम अधिकारी मानकर द्वितीय पाद में बताए यम-नियमादि योग के आठ अङ्गों का विधिवत् अनुष्ठान करना चाहिए। योग में धैर्य परमावश्यक है। योग सूत्र में जो विधि दी है, वह सूत्रात्मक ही है। उतने मात्र से इन प्रयोगों को करना सम्भव नहीं। इन सूत्रों का पूरा विस्तार तो गुरु ही बता सकता है। ग्रन्थों में चक्र-भेदन तथा कुण्डलिनी जागरण आदि की प्रक्रियाएँ दी गई हैं किन्तु बिना गुरु उन प्रक्रियाओं को करने पर लाभ की जगह बड़ी हानि भी हो सकती है।

सूत्र—वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ १.३७॥

अर्थ—अथवा वीतराग के चित्त-विषयक (संयम से मन की स्थिति स्थिर होती है।)

सूत्र—स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ १.३८॥

अर्थ—अथवा स्वप्न तथा निद्रा के ज्ञान को आलम्बन बनाने से (मन की स्थिति स्थिर होती है।)

व्याख्या

स्वप्नावस्था तथा निद्रा का उपयोग—योग चित्तवृत्ति का निरोध है। प्रश्न होता है कि चित्तवृत्ति चलायमान होती क्यों है। कामना ही चित्तवृत्ति को चलायमान करती है। उपनिषद् कहता है कि जब मनुष्य के हृदय में बसी हुई सभी कामनाएँ छूट जाती हैं तो मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं—इसी जीवन में—ब्रह्मानन्द का रसास्वादन कर लेता है—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥

वेदान्त के एक बहुत बड़े जर्मन विद्वान् पॉल ड्यूसन ने कहा है कि मनुष्य जाति के इतिहास में इससे बड़ी घोषणा आज तक किसी ने नहीं की। कामना का छूटना और चित्त का निरोध युगपद् घटित होता है। पतञ्जलि ने कामना के छूटने के अनेक उपाय बताए।

पहला उपाय है कि हम उनका ध्यान करें जिनकी कामनाएँ छूट गई हैं। जो वीतराग हैं उनके चित्त पर अपने चित्त को लगा देने से हमारा चित्त भी धीरे-धीरे उसी वीतरागता के रंग में रंग जाएगा। नियम यह है कि आप जैसा बनना चाहते हैं वैसे ही व्यक्ति का ध्यान करें क्योंकि ध्येय ध्याता को अपने जैसा ही बना लेता है। जिनका ईश्वर में विश्वास है वे ईश्वर का ध्यान करें क्योंकि ईश्वर भी अविद्यादि क्लेशों से तथा कर्मों की वासना से रहित है। किन्तु जिनका ईश्वर में विश्वास नहीं, वे वीतराग

का ध्यान करें। फल दोनों का समान है—चित्त की निर्मलता और स्थिरता।

पतञ्जलि उनके लिए भी चित्त की स्थिरता का उपाय बताते हैं जो न ईश्वरवादी हैं, न वीतराग के भक्त। वे कहते हैं कि ऐसे व्यक्तियों के लिए स्वप्न अथवा निद्रा के समय होने वाले ज्ञान पर चित्त एकाग्र करना उपयोगी सिद्ध हो सकता है। यह कुछ विचित्र जैसा लगता है। अत: इसकी थोड़ी व्याख्या करनी होगी।

स्वप्न की दुनिया अद्‌भुत है। यह सच है कि स्वप्न हमें किसी दूसरे की इच्छा से नहीं आते। वस्तुस्थिति यह है कि स्वप्न हमें हमारे चेतन मन की इच्छा से तो नहीं आते किन्तु हमारे ही अवचेतन मन की इच्छा स्वप्नों में साकार होती है। क्योंकि अवचेतन मन पर हमारा काबू नहीं है इसलिए हमारे स्वप्नों पर भी हमारा काबू नहीं है। स्वप्न में भी हम सुखी और दु:खी होते हैं। किन्तु जागते ही हमें स्वप्न के सुख-दु:ख मिथ्या हैं, यह प्रतीत हो जाता है। स्वप्न में कामना भी थी और कामना के साथ जुड़े सुख-दु:ख भी थे, किन्तु वे कामनाएँ भी निरर्थक थीं और उनके कारण होने वाले सुख-दु:ख भी निरर्थक थे। यह विचार करने पर कामनाओं की तथा कामनाओं से होने वाले सुख-दु:ख की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। कामनाओं की निस्सारता प्रकट होते ही कामनाओं का विलय होने लगता है और कामनाओं का विलय होने पर चित्त स्वत: ही स्थिर हो जाता है।

यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि कामना और आवश्यकता में अन्तर है। योगी भी अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए आहारादि ग्रहण करने की क्रिया करता है किन्तु इससे उसकी चित्तवृत्ति चञ्चल नहीं होती। आहार शरीर की आवश्यकता है। आवश्यकताएँ सीमित हैं, कामनाएँ

अनन्त हैं। आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए किया जाने वाला कर्म पुरुषार्थ कहलाता है किन्तु कामनाओं की पूर्ति के लिए किया गया प्रयास कभी सफल होता ही नहीं क्योंकि कामनाओं की कभी पूर्ति नहीं होती। यदि हम यह जान लें कि जागृत अवस्था में भी कामनाओं से होने वाला सुख-दु:ख वैसे ही मन का मायाजाल है जैसे कि स्वप्न में कामनाओं की पूर्ति अथवा अपूर्ति से होने वाला सुख या दु:ख केवल एक माया है, तो हम कामनाओं से छूट सकते हैं और हमारा मन स्थिर हो सकता है।

निद्रा की स्थिति स्वप्न से भी गहरी है। उस समय कामनाएँ होती ही नहीं। अत: उस समय सुख की प्रतीति होती है। निद्रा के समय होने वाले इस अनुभव से हम जान सकते हैं कि कामनाओं का अभाव सुख का कारण है। किन्तु निद्रा में कामनाओं का वस्तुत: अभाव नहीं हो जाता। तमोगुण के उद्रेक के कारण वे कामनाएँ दबी रहती हैं। इसलिए जागने पर वे पुन: जाग जाती हैं। यदि कामनाओं का सचमुच उन्मूलन हो जाये तो उस निष्कामता से उत्पन्न होने वाला सुख स्थायी होगा।

सूत्र—यथाभिमतध्यानाद्वा॥ १.३९ ॥

अर्थ—अथवा यथेष्ट का ध्यान करने से (मन की स्थिति स्थिर होती है।)

सूत्र—परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:॥ १.४० ॥

अर्थ—इस (स्थिर मन) का परमाणु से परम महत्त्वपर्यन्त वशीकार हो जाता है।

व्याख्या

रुचि-भेदानुसार उपासना—चित्तवृत्ति की एकाग्रता के सब

विकल्प दे देने के बाद पतञ्जलि एक अत्यन्त उदार विकल्प देते हैं कि जो जिसे इष्ट अथवा प्रिय है उस पर चित्त को लगाना भी चित्तवृत्ति को स्थिर करने का सहज-सरल उपाय है। हमारी चित्तवृत्ति उसी स्थान पर टिकती है जहाँ उसे अच्छा लगे। यदि हम उसे ऐसे स्थान पर टिकाना चाहें जहाँ उसकी रुचि नहीं है तो वह जल्दी ही वहाँ से भागने का प्रयत्न करती है। मान लीजिए किसी का यह विश्वास ही नहीं है कि ईश्वर है तो वह ईश्वर पर कैसे अपनी चित्तवृत्ति टिकाएगा? अथवा यदि उसका किसी पुरुष के अस्तित्व में विश्वास तो है किन्तु वह उसे अच्छा नहीं मानता तो यदि वह उस पुरुष पर अपना ध्यान केन्द्रित भी करना चाहेगा तो उसका चित्त प्रसन्न होने की जगह विक्षेप का ही अनुभव करेगा।

अत: पतञ्जलि ने एक अत्यन्त सरल उपाय बताया कि किसी भी अभीष्ट पदार्थ पर चित्त को केन्द्रित करके पहले उसे स्थिर बनाना चाहिए। यदि हमारी रुचि के प्रतिकूल विषय पर हमें चित्त केन्द्रित करने के लिए कहा जाएगा तो हमारा चित्त वहाँ लगना नहीं चाहेगा और हम बलपूर्वक उसे वहाँ लगाना चाहेंगे, यह एक अन्तर्द्वन्द्व की स्थिति बन जाएगी। हम स्वयं ही स्वयं से संघर्ष करने की स्थिति में आ जाएँगे। स्वयं से स्वयं संघर्ष करके कोई जीतता नहीं है, हारता ही है। अत: पतञ्जलि ने एक अत्यन्त मनोवैज्ञानिक उपाय बताया है कि जो प्रिय है उसी पर अपना चित्त एकाग्र करें। इसलिए ध्यान करने के लिए हिन्दुओं ने सभी तरह की मूर्तियाँ बनाईं—जिसकी जैसी रुचि, वह वैसी ही मूर्ति पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकता है। माधुर्य भाव के उपासकों के लिए कृष्ण हैं, शौर्य-पराक्रम के उपासकों के लिए धनुर्धारी राम हैं। यहाँ तक कि जिन्हें भयानक रूप ही अच्छा लगे उनके लिए खड्गधारिणी महाकाली

की मूर्ति भी है। वीतरागताप्रिय उपासकों के लिए तो पद्मासनस्थ योग-मुद्रा में शिव हैं ही। ऐसा नहीं है कि हिन्दुओं को यह पता नहीं था कि मूल शक्ति एक ही है, किन्तु अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ उपासक की मनोवैज्ञानिक आवश्यकता की पूर्ति का साधन हैं। जो मूर्तिपूजा न करना चाहें वे किसी भी प्रिय पदार्थ पर अपना ध्यान केन्द्रित कर सकते हैं—गुलाब का फूल हो सकता है, स्वच्छ सरोवर हो सकता है, नील गगन हो सकता है। मतलब तो चित्त की एकाग्रता से है।

प्रश्न होता है कि इस प्रकार का ध्यान तो रागवर्धक ही होगा, वह मोक्ष तक कैसे ले जाएगा? एक सूत्र है कि अनुराग से ही वैराग्य होता है—**अनुरागादेव वैराग्यम्**। क्या मीरां के कृष्ण-प्रेम ने उसे विरक्त नहीं बना दिया? फिर भी यह सगुणोपासना का अथवा भक्ति का मार्ग है। जिनकी रुचि निराकारोपासना अथवा ज्ञानमार्ग में है उनके लिए ईश्वरोपासना तथा वीतरागोपासना का प्रतिपादन तो पहले ही किया जा चुका है। पतञ्जलि की वैज्ञानिकता यह है कि वे रुचिभेद को समझते हैं और प्रत्येक रुचि के व्यक्ति के लिए योग का मार्ग प्रशस्त करना चाहते हैं। इसी उदारता के कारण पतञ्जलि का कोई सम्प्रदाय नहीं बन सका। सम्प्रदाय के लिए इदमित्थन्तया वाली दृष्टि चाहिए। पतञ्जलि एक वैज्ञानिक हैं और वैज्ञानिक सम्प्रदाय में बँध नहीं सकता।

प्रश्न हुआ कि चित्त की एकाग्रता के लिए अनेक उपाय बता दिए किन्तु चित्त की इस एकाग्रता का फलितार्थ क्या है? उत्तर दिया गया कि चित्त की एकाग्रता का चरमोत्कर्ष इसमें है कि साधक सूक्ष्म से सूक्ष्म तथा महान् से महान् विषय पर अपने चित्त को केन्द्रित कर सकता है।

वस्तुत: सत्य सूक्ष्म भी है और महान् भी है। सत्य को जानने के

लिए सूक्ष्मदर्शिता भी चाहिए और दूरदर्शिता भी चाहिए।

सूत्र—क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः॥ १.४१॥

अर्थ—जिसकी चित्तवृत्ति क्षीण हो गयी (एकाग्र हो गयी) उसको गृहीता (अस्मिता), ग्रहण (इन्द्रियाँ) तथा ग्राह्य (विषय) में स्थित होकर उनसे तद्रूपता उसी प्रकार हो जाती है जैसे निर्मल मणि में (विषय प्रतिबिम्बित हो जाते हैं) यही समापत्ति (समाधि) है।

समाधि के भेदोपभेद—यद्यपि पातञ्जल योग सूत्र के चार पाद हैं, तथापि उसका प्रथम समाधि पाद भी अपने आप में परिपूर्ण है। उत्तम अधिकारी तो प्रथम पाद में ही स्वरूपावस्थिति तक की सब सोपानों का विवरण पाकर कृतकत्य तथा वेदितवेदितव्य हो जाता है। किन्तु क्योंकि सभी साधक उत्तम अधिकारी नहीं होते, इसलिए द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ पादों की आवश्यकता मध्यम तथा अधम अधिकारी के लिए बनी रहती है।

प्रथम पाद का समाधि पाद नाम है। योग के आठ अङ्गों में समाधि ही अन्तिम है। उत्तम अधिकारी से अभिप्राय उन साधकों से है जिनमें सत्त्व गुण प्रधान है। ऐसे साधक स्वभाव से ही हिंसादि पापों से विरत होते हैं, अतः उनके लिए यमनियमादि के उपदेश की आवश्यकता ही नहीं। वे सत्त्व-प्रधान होने के कारण ज्ञान-प्रधान होते हैं। अतः उन्हें सीधे चित्त की एकाग्रता द्वारा सत्य के साक्षात्कार करने का क्रम बताकर वह उपाय बता दिया जाता है कि किस प्रकार वे प्रकृति और पुरुष के बीच विवेक करके स्वरूप में अवस्थित हो सकते हैं। जिस उपाय से प्रकृति के विभिन्न स्तरों को जाना जा सकता है, वे सभी उपाय सम्प्रज्ञात

समाधि के अन्तर्गत आते हैं। अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि के सभी प्रकारों में ध्येय प्रकृति के ही भिन्न-भिन्न स्थूल-सूक्ष्म स्तर रहते हैं। असम्प्रज्ञात समाधि में पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, वहाँ ध्याता और ध्येय का भेद रहता ही नहीं।

सम्प्रज्ञात समाधि में ध्याता और ध्येय का भेद बना रहता है। जब अभ्यास, वैराग्य तथा ईश्वरप्रणिधानादि पहले बताए गए उपायों में से किसी एक या एकाधिक उपाय द्वारा चित्त की एकाग्रता सध जाती है तो चित्तवृत्ति में रजोगुण और तमोगुण न रह जाने से वह चित्तवृत्ति वैसी ही निर्मल हो जाती है जैसी कोई निर्दोष मणि। निर्दोष मणि के समीप जो भी पदार्थ होता है, वही पदार्थ उस मणि में यथावत् प्रतिबिम्बित हो जाता है। उसी प्रकार निर्मल चित्त में स्थूल या सूक्ष्म कोई भी विषय यथावत् इस प्रकार प्रतिबिम्बित हो जाता है कि वह चित्तवृत्ति उसी विषय के आकार से आकारित हो जाती है। चित्तवृत्ति के विषय तीन हो सकते हैं—(१) ग्रहीता—अर्थात् जानने वाला (२) ग्रहण—अर्थात् जानने का साधक इन्द्रियाँ तथा (३) ग्राह्य—अर्थात् स्थूल तथा सूक्ष्मभूत। इनमें चित्तवृत्ति जब ग्रहीता अर्थात् जानने वाले को जानती है, तब वह अस्मितानुगत समाधि कहलाती है। जब चित्तवृत्ति ग्रहण अर्थात् इन्द्रियों को जानती है तब वह आनन्दानुगत समाधि कहलाती है। ग्रहीता और ग्रहण तो अपेक्षाकृत सूक्ष्म हैं, ग्राह्य अपेक्षाकृत स्थूल है। ग्रहीता और ग्रहण की अपेक्षा स्थूल ग्राह्य अर्थात् भूत भी दो प्रकार के हैं—स्थूल एवं सूक्ष्म। स्थूल भूत जिस चित्तवृत्ति की एकाग्रता से जाने जाते हैं वह चित्तवृत्ति भी दो प्रकार की है तथा सूक्ष्म भूतों को जानने वाली चित्तवृत्ति भी दो प्रकार की है। स्थूल भूत को जानने वाली दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ

सवितर्क तथा निर्वितर्क कहलाती हैं और सूक्ष्मभूत को जानने वाली दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ सविचार और निर्विचार कहलाती हैं। समाधिपाद का मुख्य विषय तो समाधि है। अतः सम्प्रज्ञात समाधि के इन भेदों की चर्चा योगसूत्र में दो बार की गई है। दोनों बार की चर्चा का निष्कर्ष यह है कि स्थूलभूत से लेकर अस्मितापर्यन्त सभी ज्ञेय सम्प्रज्ञात समाधि का विषय है। जैसे-जैसे हम स्थूल से सूक्ष्म विषय की ओर चलते हैं चित्तवृत्ति भी सूक्ष्म होती जाती है। इसलिए स्थूल भूतों का ज्ञान करते समय चित्तवृत्ति में वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता—ये चार रहते हैं जबकि सूक्ष्म भूतों का ज्ञान करते समय विचार, आनन्द और अस्मिता—ये तीन ही रह जाते हैं। इसी प्रकार इन्द्रियों का ज्ञान करते समय आनन्द और अस्मिता—ये दो रहते हैं जबकि ज्ञाता के ज्ञान करते समय केवल अस्मिता—यह एक ही रह जाती है। साधक को अपनी चित्तवृत्ति को एकाग्र करके सूक्ष्म से सूक्ष्मतर बनाना चाहिए ताकि प्रकृति के सूक्ष्मतर रहस्यों को जान सके और अन्त में तो चित्तवृत्ति का निरोध ही कर देना चाहिए ताकि साधक स्वरूप में अवस्थित हो सके। इस प्रकार समाधि के कुल सात प्रकार बनेंगे— (१) सवितर्क—इसमें स्थूल भूतों का शब्द के माध्यम से ज्ञान होगा। (२) निर्वितर्क—इसमें भी स्थूल भूतों का ही ज्ञान होगा किन्तु शब्द का माध्यम नहीं रहेगा। (३) सविचार—इसमें सूक्ष्म भूतों का देश, काल, कार्य-कारण सम्बन्ध आदि सहित ज्ञान होगा। (४) निर्विचार—इसमें सूक्ष्म भूतों का देश, काल, कार्य-कारण सम्बन्ध आदि के बिना ज्ञान होगा। (५) आनन्दानुगत—इसमें ज्ञान की साधनभूत इन्द्रियों का ज्ञान होगा। (६) अस्मितानुगत—इसमें ज्ञाता रूप अस्मिता का ज्ञान होगा। (७) असम्प्रज्ञात—इसमें ज्ञाता-ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाएगा और पुरुष अपने स्वरूप में स्थित हो जाएगा।

सूत्र—तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः॥ १.४२॥

अर्थ—उन (समापत्तियों) में सवितर्क समापत्ति वह है जिसमें शब्द, अर्थ और ज्ञान का विकल्प सङ्कीर्ण रहता है। (अर्थात् मिला हुआ रहता है।)

सूत्र—स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥ १.४३॥

अर्थ—स्मृति के शुद्ध होने पर (अर्थात् शब्द रहित स्मृति होने पर) जब चित्तवृत्ति मानो अपना रूप भी खो देती है और केवल अर्थ की ही प्रतीति होती है तब निर्वितर्क समापत्ति होती है।

व्याख्या

समाधि और आगम—योगसूत्र में सर्वप्रथम स्थूलभूतों को अपना विषय बनाने वाली समाधि (अर्थात् चित्त की एकाग्रता) का वर्णन किया गया है। सभी स्थूल भूतों को बताने के लिए कुछ शब्द नियत रहते हैं। वे शब्द अपने अर्थ को बताते हैं तथा वाच्य-वाचक संबंध को जान कर हमें पदार्थ का ज्ञान होता है। ऐसे ज्ञान को शास्त्र में विकल्प कहा जाता है। जब हमारी चित्तवृत्ति इस विकल्प ज्ञानपूर्वक स्थूलभूतों पर एकाग्र होती है तो उसे सवितर्क समाधि कहा जाता है। सामान्य स्थिति में हमारी चित्तवृत्ति की एकाग्रता इसी कोटि की होती है। प्रायः हम शब्द की सहायता से ही जान रहे हैं। विशेष कर स्थूल भूतों का चिंतन-मनन तो शब्द की सहायता से ही होता है। यह चिन्तन का सबसे स्थूल रूप है। इस चिंतन को शुद्ध नहीं कहा जा सकता क्योंकि इसका विषय केवल पदार्थ नहीं होता अपितु उसके साथ शब्द और अर्थ ज्ञान भी सङ्कीर्ण

रहता है। शब्द का विकल्प-जाल चित्त को पूरी तरह पदार्थ पर केन्द्रित नहीं होने देता। बहुत बार तो शब्द इतने महत्त्वपूर्ण हो जाते हैं कि अर्थ तो लगभग खो ही जाता है। यंत्रवत् मंत्रजाप में यही स्थिति बनती है।

यद्यपि सवितर्क समाधि चित्त की एकाग्रता का सबसे स्थूलरूप है तथा इसमें पदार्थ और शब्द का मिश्रण होने से इससे होने वाला ज्ञान शुद्ध भी नहीं है, तथापि इस प्रकार की प्राथमिक एकाग्रता से भी अनेक महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न होते हैं। आधुनिक विज्ञान को हम भौतिक विज्ञान कहते हैं क्योंकि उसमें भूतों पर विचार होता है। यह विचार शब्दों के ही माध्यम से होता है। किन्तु एकाग्र चित्तवृत्ति द्वारा स्थूल भूतों पर भी किया गया चिन्तन प्रकृति के रहस्यों को उद्घाटित कर देता है तो आज हम सभी भौतिक विज्ञान की महिमा के सम्मुख नतमस्तक हो जाते हैं। यह वैज्ञानिकों की सवितर्क समाधि का ही चमत्कार है। योगी इससे आगे जाता है। सवितर्कसमाधि में जो तीन घटक रहते हैं—शब्द, अर्थ और ज्ञान, उनमें से समाधि के दूसरे सोपान पर शब्द छूट जाता है और केवल पदार्थ रह जाता है। वैज्ञानिक भी एकाग्रता की ऊँची स्थिति में शब्द को छोड़कर केवल पदार्थ पर ही अपने चित्त को एकाग्र करता है। इस नि:शब्द अर्थात् शब्द के विकल्प से रहित अवस्था में जो ज्ञान योगी अथवा वैज्ञानिक को होता है उसे शब्द तो वह बाद में देता है। शब्द की सहायता के बिना केवल पदार्थ पर चित्तवृत्ति की इस एकाग्रता को निर्वितर्क समाधि कहा जाता है। इस स्थिति में जो ज्ञान होता है, वही ज्ञान वास्तविक प्रत्यक्ष है। इसे पर-प्रत्यक्ष कहा जाता है। इस पर-प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान के आधार पर आगम, विज्ञान तथा अनुमान का निर्माण होता है। ज्ञान को जब तक समाधि द्वारा किए गए साक्षात्कार से स्पष्ट न कर लिया जाए तब तक यह ज्ञान धुँधला ही रहता है। उस ज्ञान को

योगसाधना द्वारा ही स्पष्ट किया जा सकता है। यही योगशास्त्र की विशेषता है। योग आगम की प्रयोगशाला है।

संक्षेप में आगम तथा समाधि का क्रम यूँ समझना चाहिए कि आगम के आद्य प्रवक्ता कपिलादि ने समाधि द्वारा सत्य का साक्षात्कार किया। वह समाधि निर्वितर्क थी। समाधि की इस नि:शब्द अवस्था में जिस सत्य का उन्होंने साक्षात्कार किया उसे हमारे उपकारार्थ शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया। वे शब्द आगम कहलाए। उस आगम को पढ़कर हमें सत्य का जो ज्ञान होता है वह सामान्य होने के कारण धुँधला ही रहता है। हम स्वयं निर्वितर्क समाधि अर्थात् नि:शब्द की स्थिति में जब उसी सत्य को जानते हैं तो वह विशेष ज्ञान होने के कारण स्पष्ट हो जाता है। हमारे लिए आगम विज्ञान के सिद्धान्त अथवा थ्योरी के समान हैं और समाधि प्रयोग अथवा प्रेक्टिकल के समान है। समाधिजन्य ज्ञान के अभाव में आगमजन्य ज्ञान अस्पष्ट होने के कारण न तो कार्यकारी बन पाता है, न विश्वसनीय। इसीलिए आगमों पर श्रद्धा भी नहीं बन पाती। समाधिजन्य ज्ञान होने पर आगम श्रद्धेय बन जाते हैं। जब तक समाधिजन्य ज्ञान न हो तब तक भी आगम के ज्ञान को प्रमाण ही मानना चाहिए क्योंकि वह आप्त पुरुषों के उस ज्ञान को अभिव्यक्त करते हैं जो ज्ञान उन्हें समाधि में प्राप्त हुआ था। आगम पर हमारी यह श्रद्धा योगाभ्यास द्वारा और भी सुदृढ़ हो जाती है।

सूत्र—एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ १.४४॥

अर्थ—इस सवितर्क-निर्वितर्क समापत्ति से ही '(जब यह) सूक्ष्मविषयक होती है तब सविचार-निर्विचार होती है' यह व्याख्या हो गयी।

सूत्र—सूक्ष्मविषयत्वञ्चालिङ्गपर्यवसानम्॥ १.४५॥

अर्थ—और सूक्ष्मविषयत्व अलिङ्ग (मूलप्रकृति) पर्यन्त है।

व्याख्या

सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान—स्थूल पृथ्वी आदि पदार्थ कार्य हैं, उनका कारण पृथ्वी तन्मात्रा आदि सूक्ष्म है। इन तन्मात्राओं का कारण अहंकार इनसे भी सूक्ष्म है। अहंकार का कारणभूत महत् अहंकार से भी सूक्ष्म है। महत् का भी कारण मूल प्रकृति महत् से भी सूक्ष्म है। मूल प्रकृति सबसे सूक्ष्म है।

स्थूल पृथ्वी आदि पदार्थ पहले बताई गई सवितर्क तथा निर्वितर्क समाधि का विषय बनते हैं जबकि तन्मात्राओं से लेकर महत् पर्यन्त सभी सूक्ष्म विषय सविचार तथा निर्विचार समाधि का विषय बनते हैं।

कारण सूक्ष्म है, कार्य स्थूल है। स्थूलभूत कार्य हैं, वे किसी के कारण नहीं। मूल प्रकृति सूक्ष्मतम है, उसका कोई कारण नहीं। शेष पञ्चतन्मात्रा, अहंकार और महत् अपने से स्थूल का कारण है और अपने से सूक्ष्म का कार्य है।

पुरुष न किसी का कारण है, न किसी का कार्य है। वह कारण-कार्य संबंध से अतीत है। कारण-कार्य संबंध की परम्परा के सभी तत्त्व सम्प्रज्ञात समाधि के विषय हैं और पुरुष असम्प्रज्ञात समाधि का विषय है।

स्थूलभूत क्योंकि किसी का कारण नहीं है अतः वे स्थूल कहलाते हैं किन्तु शेष सभी पदार्थ क्योंकि किसी न किसी का कारण हैं, अतः वे सूक्ष्म कहलाते हैं।

इन सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान प्रथम तो देश, काल तथा कारण-कार्य संबंध सहित होता है। यह ज्ञान चित्त की जिस एकाग्रता से होता है उस चित्तवृत्ति की एकाग्रता की स्थिति को सविचार समाधि कहा जाता है। जब चित्तवृत्ति की एकाग्रता और भी घनीभूत हो जाती है तब केवल सूक्ष्म पदार्थ ही ज्ञेय रूप में शेष रह जाता है, देश, काल, कारण-कार्य संबंधादि शेष नहीं रहते। यह चित्तवृत्ति की एकाग्रता की चरमसीमा है जिसे निर्विचार समाधि कहा जाता है। इसमें पदार्थ का केवल वर्तमान स्वरूप ही सामने रहता है, अतीत तथा भविष्य का कोई ख्याल नहीं किया जाता।

वितर्क में तीन विषय रहते हैं—शब्द, अर्थ और ज्ञानरूप चित्तवृत्ति। निर्वितर्क में केवल अर्थ रह जाता है, शब्द नहीं रहता—यह पहले कहा जा चुका है। यहाँ यह विचारणीय है कि निर्वितर्क में चित्तवृत्ति रहती है या नहीं। उत्तर यह है कि यद्यपि चित्तवृत्ति रहती तो है किन्तु चित्त की एकाग्रता इतनी सघन होती है कि पदार्थ तो स्पष्टतर होता है किन्तु चित्तवृत्ति रहने पर भी ऐसी हो जाती है मानो उसका स्वरूप रहा ही नहीं। यही स्थिति निर्विचारता में भी है—वहाँ देश, काल, कारण-कार्य संबंध आदि तो रहे ही नहीं, चित्तवृत्ति भी मानों शून्य की स्थिति में आ जाती है।

सम्प्रज्ञात समाधि की पराकोटि निर्विचार समाधि ही है। सम्प्रज्ञात समाधि का विषय प्रकृति ही है। प्रकृति का सूक्ष्मतम रूप मूल प्रकृति है, जहाँ सत्त्व, रजस् और तमस् साम्यावस्था में रहते हैं। यही सम्प्रज्ञात समाधि की भी सीमा होनी चाहिए, किन्तु इतना विशेष है कि चित्त सत्त्व, रजस् तथा तमस् की विषमावस्था से बना है। अतः मूलप्रकृति सम्प्रज्ञात

समाधि का भी विषय नहीं बनती क्योंकि वहाँ तीनों गुणों की साम्यावस्था है। अत: मूल प्रकृति तो अनुमान का ही विषय बनी रहती है।

सम्प्रज्ञात समाधि का विषय स्थूलभूत से महत् पर्यन्त प्रकृति ही है। इनमें सूक्ष्मभूत से महत् पर्यन्त सूक्ष्म तत्त्व सविचार तथा निर्विचार समाधि का विषय बनते हैं। महत् भी कार्यरूप अर्थात् व्यक्त है तो इसका भी कोई कारण होना चाहिए—इस अनुमान से अव्यक्त प्रकृति का भी ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि का क्षेत्र पूरी स्थूल तथा सूक्ष्म प्रकृति है। इस सम्प्रज्ञात समाधि का भी सूक्ष्मतम रूप निर्विचार समाधि है। अत: उसका महत्त्व और भी अधिक है। पतञ्जलि आगे चलकर उसी महत्त्व को उजागर करेंगे।

सूत्र—ता एव सबीज: समाधि: ॥ १.४६ ॥

अर्थ—ये (पूर्वोक्त चार समापत्तियाँ) ही सबीज समाधि कहलाती हैं।

सूत्र—निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसाद: ॥ १.४७ ॥

अर्थ—निर्विचार की प्रवीणता होने पर अध्यात्म की निर्मलता होती है।

सूत्र—ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ १.४८ ॥

अर्थ—अध्यात्म की निर्मलता होने पर प्रज्ञा ऋतम्भरा (सत्य-पूर्ण हो जाती है)

सूत्र—श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात् ॥ १.४९ ॥

अर्थ—विशेष अर्थ को अपना विषय बनाने वाली होने के कारण यह (ऋतम्भरा प्रज्ञा) आगम तथा अनुमान के विषयों से भिन्न विषयों वाली है।

व्याख्या

ऋतम्भरा प्रज्ञा—स्थूल तथा सूक्ष्म का विवेचन करते समय उन्हीं पदार्थों का समावेश होता है जो कारण-कार्य सम्बन्ध की शृंखला में कहीं न कहीं आते हैं। पुरुष क्योंकि उस कारण-कार्य शृंखला से बाहर है अत: न तो वह सूक्ष्म पदार्थों की श्रेणी में परिगणित होता है और न ही सम्प्रज्ञात समाधि का विषय बनता है।

सम्प्रज्ञात समाधि के सबसे अधिक प्रखर प्रकार, निर्विचार समाधि, की पहुँच महत् तत्त्व तक है। यह महत् भी क्योंकि अव्यक्त प्रकृति में लीन होने के कारण उसका बोधक बनता है, इसलिए 'लीनं गमयति' इस व्युत्पत्ति से इसे लिङ्ग कहा जाता है। सब अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाते हैं किन्तु स्वयं अव्यक्त प्रकृति किसी में लीन नहीं होती। अत: उस अव्यक्त प्रकृति को अ-लिङ्ग कहा जाता है। यहीं तक प्रकृति का साम्राज्य है।

प्रकृति को ध्येय बनाकर चित्तवृत्ति को एकाग्र करने वाली सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार तथा निर्विचार नामक समाधियों में क्योंकि बाह्य प्रकृति का आलम्बन रहता है, अत: इन चारों समाधियों को सबीज कहा जाता है। अभी साधक अपने स्वरूप—चैतन्य—के बाहर ही की खोज में लगा है, यही उसका अज्ञान है और इस अज्ञान को ही बीज कहा जाता है। यह बीज इसलिए कहलाता है कि इस अज्ञान से संसार का परिभ्रमण इसी प्रकार उत्पन्न होता है जैसे बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है। अभिप्राय यह है कि साधक जब तक प्रकृति में भटक रहा है, तब तक भवचक्र से उसकी मुक्ति नहीं है। भले ही ऐसा साधक विदेह और प्रकृतिलय जैसे उच्च पदों को प्राप्त करके अत्यधिक दीर्घकाल तक अतिशय आनन्द भी क्योंकि न भोगता रहे किन्तु उसका पुनर्जन्म होता

है। इतना होने पर भी सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम चरण, निर्विचार समाधि, का बहुत महत्त्व है क्योंकि इसके द्वारा प्रकृति का पूर्ण रूप हमारे सामने आ जाता है और ऐसा होते ही 'मैं प्रकृति नहीं हूँ' यह विवेकख्याति प्राप्त हो जाती है। पतञ्जलि कहते हैं कि निर्विचार समाधि की निर्मलता होने पर बुद्धि निर्मल तथा प्रसन्न हो जाती है। इसे ही स्थितप्रज्ञता भी कहा जा सकता है। पतञ्जलि इसे अध्यात्म अर्थात् बुद्धि का प्रसाद अथवा निर्मलता कहते हैं। निर्विचार समाधि का यह बहुत बड़ा फल है। निर्मल बुद्धि द्वारा जो ज्ञान होता है उसे ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहा जाता है। ऋत सत्य की अपेक्षा भी सूक्ष्म है। सत्य मूर्त है, ऋत उस मूर्त्त सत्य का अमूर्त आधार है। पण्डित मधुसूदन ओझा ने सत्य को सकेन्द्र तथा ऋत को अकेन्द्र कहा है। ऋत को हम सत्य का भी सत्य, परम सत्य, कह सकते हैं। ऋत वे सार्वभौम नियम हैं जिनका अनुसरण करने से सृष्टि का अस्तित्व बना रहता है। उन सार्वभौम नियमों के जानने के बाद कोई सत्य जानना शेष नहीं रहता। इसे ही सर्वज्ञता कहा जाता है। इस स्थिति में पहुँचकर साधक का कोई दु:ख शेष नहीं रहता । दु:ख तो तभी तक है जब तक अज्ञान है। ज्ञानी की स्थिति उस व्यक्ति के समान बताई गई है जो प्रज्ञा रूपी पर्वत शिखर पर पहुँच कर पर्वत की तलहटी में अज्ञानवश दु:खी होते हुए प्राणियों को करुणापूर्वक देखता है।

इस प्रकार ज्ञान प्राप्ति के तीन साधन हुए—आगम, अनुमान और समाधि। आगम से श्रवण, अनुमान से मनन और समाधि से निदिध्यासन सम्पन्न होता है। इनमें आगम तथा अनुमान से सामान्य ज्ञान और समाधि से विशेष ज्ञान होता है। सामान्य ज्ञान धुँधला रहता है, विशेष ज्ञान स्पष्ट होता है। लौकिक प्रत्यक्ष से स्थूल, अव्यवहित तथा

निकटस्थ वस्तु का विशेष अर्थात् स्पष्ट ज्ञान हो सकता है किन्तु सूक्ष्म, व्यवहित तथा दूरस्थ वस्तु का ज्ञान तो समाधि से ही होगा। भौतिक विज्ञान अत्यन्त परिष्कृत उपकरणों के माध्यम से भी जिन पदार्थों का प्रत्यक्ष करता है, वे पदार्थ भी योग की परिभाषा में स्थूल ही हैं। सूक्ष्म पदार्थ से यहाँ अभिप्राय उन्हीं पदार्थों से है जिनका प्रत्यक्ष ज्ञान समाधि में ही हो सकता है, लौकिक प्रत्यक्ष द्वारा नहीं। ऐसे सूक्ष्म पदार्थों के ज्ञान के लिए विज्ञान भी उपकरणों की सहायता से प्रयोगशाला की आवश्यकता न मानकर चित्त की एकाग्रता को ही महत्त्व देता है। बिना उपकरणों की सहायता से सत्य जानने की इस प्रक्रिया को वैज्ञानिक थॉट एक्सपेरीमेन्ट अर्थात् वैचारिक प्रयोग कहते हैं। यह एक प्रकार की समाधि ही है।

सूत्र—तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी॥ १.५०॥

अर्थ—उस (ऋतम्भरा प्रज्ञा) से उत्पन्न संस्कार अन्य सब संस्कारों को प्रतिबन्धित कर देता है।

व्याख्या

योग और विज्ञान—जब ऋतम्भरा प्रज्ञा से ऋत का ज्ञान हो जाता है तो असत्य पर आधृत ज्ञान उसी प्रकार नहीं टिक पाता जिस प्रकार एक बार अग्नि की उष्णता का ज्ञान होने पर 'अग्नि शीतल है' यह मिथ्या ज्ञान नहीं ठहर सकता। पतञ्जलि कहते हैं कि समाधिजन्य ज्ञान अज्ञानजन्य भ्रमपूर्ण संस्कार को दूर कर देता है। प्रश्न होता है कि अज्ञानजन्य भ्रम तो दूर हो गया किन्तु समाधिजन्य ज्ञान यथार्थ होने पर प्रामाणिक ही कहलाएगा और प्रमाण भी है तो एक चित्तवृत्ति ही। क्या यह चित्तवृत्ति साधक को संसार में नहीं भटकायेगी? क्योंकि संसार का भ्रमण तो चित्तवृत्ति के सर्वथा निरोध होने पर अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि

में ही रुकता है। फिर समाधिजन्य यथार्थ ज्ञान की भी प्रशंसा क्यों की जा रही है? यह तो संसार का हेतु है।

उत्तर यह है कि अविद्या से युक्त चित्त ही भव-परिभ्रमण का कारण है। विद्यायुक्त चित्त तो साधक को यह ज्ञान करा देता है कि मैं पुरुष हूँ, प्रकृति नहीं। चित्त का यही अन्तिम कार्य है। इस कार्य को कर देने के बाद चित्त को और कोई कार्य करना शेष नहीं रहता तो फिर चित्त भी विलीन हो जाता है।

इस प्रकार समझना चाहिए कि एक काँटे से दूसरा काँटा निकाल दिए जाने पर प्रथम काँटे का कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता। अतः उस काँटे को भी निकाल कर फेंक दिया जाता है। यह निष्कण्टकता की स्थिति है। इस स्थिति को लाने में प्रथम काँटा बाधक नहीं, साधक है। कोई काँटा होने मात्र से बाधक नहीं हो जाता। निर्भर करता है कि वह काँटा हमने ज्ञानपूर्वक दूसरे काँटे को निकालने के लिए शरीर में चुभाया था या कि हमारे अज्ञान में वह काँटा हमारे शरीर में स्वयं चुभ गया है। अज्ञानवश चुभा काँटा ही बाधक है, प्रयोजनवश स्वेच्छा से चुभाया गया काँटा बाधक नहीं है। प्रयोजन की पूर्ति पर हम स्वेच्छावश चुभाये काँटे को भी निकाल फेंकते हैं। हम सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तिम चरण तक आ पहुँचे हैं। यहाँ तक चित्त की एकाग्रता काम आती है। चित्त की एकाग्रता का कोई ध्येय रहता है। वह ध्येय ध्याता के अतिरिक्त ही कोई हो सकता है। ध्याता के अतिरिक्त वह ध्येय प्रकृति ही है। योग के अन्तिम लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि तक पहुँचने से पहले तक प्रकृति पर केन्द्रित सम्प्रज्ञात समाधि ही उपयोगी सिद्ध होती है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योगी के लिए प्रकृति का ज्ञान भी उपयोगी है। इस

दृष्टि से इस बिन्दु तक योग और विज्ञान साथ-साथ चलते हैं। अपने विशुद्ध रूप में तो विज्ञान प्रकृति ज्ञान कराने के कारण योग का सहयोगी ही है किन्तु यदि विज्ञान का लक्ष्य भोग-सामग्री जुटाना बन जाता है, तो वह विज्ञान योग का विरोधी हो जाता है, क्योंकि योग का प्रयोजन मुक्ति है, भुक्ति नहीं। विज्ञान मनुष्य की आवश्यकता की पूर्ति करे तो उसका स्वागत ही होना चाहिए क्योंकि आवश्यकताओं की पूर्ति तो योगी-अयोगी सभी की होनी चाहिए। किन्तु विज्ञान यदि आवश्यकताओं से आगे जाकर उपभोक्तृवादी संस्कृति को पनपाता है और मनुष्य को अनन्त कामनाओं के जंगल में भटका देता है, तो वह अशान्ति का ही कारण बनता है। ऐसी विद्या को आसुरी विद्या कहा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि अध्यात्म अर्थात् बुद्धि की निर्मलता योग में भी अभीष्ट है और बुद्धि की प्रखरता के बिना विज्ञान भी आगे नहीं बढ़ सकता। प्रश्न है कि उस बुद्धि की प्रखरता का उपयोग भोग के आधिक्य को बढ़ा कर अशांति उत्पन्न करने के लिए किया जाए या प्रकृति से अपने स्वरूप की पृथक्ता समझकर प्रकृति की दासता से मुक्ति पाने के लिए किया जाए? कई साधक जो 'पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ' जैसे वाक्यों को पकड़कर आगम ज्ञान और बौद्धिक विकास की अवहेलना करते हैं, वे साधक भी गलत रास्ते पर हैं और जो वैज्ञानिक बुद्धि को ही सब कुछ मान कर प्रकृति से भिन्न चैतन्य की सत्ता ही नहीं मानते, वे वैज्ञानिक भी रास्ते के पड़ाव को ही अन्तिम लक्ष्य मान कर बीच रास्ते में ही रुक जाते हैं। इसलिए बुद्धि को प्रज्ञा में परिणत करना चाहिए।

सूत्र—तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥ १.५१॥

अर्थ—उस (ऋतम्भराजन्य संस्कार) के भी निरोध हो जाने पर सब (संस्कारों) के निरोध होने से निर्बीज समाधि होती है।

व्याख्या

जीवन्मुक्ति—योगसूत्र के पहले समाधिपाद का अन्तिम सूत्र ही योगसूत्र का भी अन्तिम सूत्र बन सकता है, यदि साधक उत्तम कोटि का हो। ऐसे साधक को योग सूत्र के शेष पाद पढ़ने की आवश्यकता ही नहीं है।

प्रकृति का पूर्ण स्वरूप सम्प्रज्ञात समाधि में जान लिया गया। अब प्रकृति के प्रति कोई उत्सुकता शेष नहीं रही। इसे ही परवैराग्य कहा जाता है। प्रकृति के प्रति उत्सुकता बनी रहने तक साधक प्रकृति को अपनी समाधि का लक्ष्य बनाता है। तब ध्याता और ध्येय दोनों रहते हैं। जब प्रकृति ध्येय नहीं रही तो चित्तवृत्ति निरुद्ध हो जाती है क्योंकि चित्तवृत्ति की गति को प्रकृति तक ही थी। प्रकृति के प्रति उत्सुकता ही जन्म–मरण का कारण है और वही सम्प्रज्ञात समाधि का विषय है। अत: सम्प्रज्ञात समाधि को सबीज अर्थात् जन्म–मरण के कारण से युक्त कहा है किन्तु असम्प्रज्ञात समाधि में प्रकृति का अवलम्बन छूट गया। अत: वहाँ जन्म–मरण का बीज भी नहीं रहा। इसलिए असम्प्रज्ञात समाधि को निर्बीज कहा गया है।

प्रश्न होता है कि असम्प्रज्ञात समाधि समाधि में भी 'चित्तवृत्ति का निरोध हुआ' यह संस्कार तो रहेगा। क्या यह संस्कार पुनर्जन्म का कारण नहीं बन जाएगा? उत्तर यह है कि बीज दो प्रकार के होते हैं—एक वे जिनमें अङ्कुर उत्पन्न करने शक्ति होती है और दूसरे वे जो भाड़ में भुन जाने के कारण अङ्कुर उत्पन्न नहीं कर सकते। उसी प्रकार अन्य संस्कार तो संसार का कारण बन सकते हैं किन्तु चित्तवृत्ति के निरोध का संस्कार दग्ध बीज के समान आवागमन का चक्र उत्पन्न नहीं कर सकता।

एक प्रश्न प्राय: पूछा जाता है कि असम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त योगी क्या भोजन आदि क्रिया करेगा या नहीं। यदि वह भोजन आदि क्रिया नहीं करेगा तब तो उसका शरीर ही छूट जाएगा और यदि वह शरीर की स्थिति बनाए रखने वाली भोजन आदि क्रिया करेगा तो भोजनादि करते समय वह हमारी तरह ही भोग में प्रवृत्त होने के कारण मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकेगा? इस प्रश्न के उत्तर में यह समझना चाहिए कि जब योगी प्रयत्नपूर्वक वृत्ति निरोध करता है तब तक उसकी निरुद्ध अवस्था तो होती है, किन्तु निरुद्ध–स्थिति नहीं। निरुद्ध–स्थिति तो तब बनती है जब उसकी चित्तवृत्ति बिना प्रयास के सदा ही निरुद्ध बनी रहे। जिसने निरुद्ध अवस्था प्राप्त की है किन्तु निरुद्ध स्थिति नहीं, वह अवश्य निरुद्ध अवस्था से बाहर आने पर कर्मबंधन से बँधेगा। निरुद्ध अवस्था क्योंकि प्रयत्नसाध्य थी, अत: वह टूटेगी भी। किन्तु जो योगी अनायास–सिद्ध निरुद्ध–स्थिति को प्राप्त हो गया उसकी निरुद्ध–स्थिति भोजनादि क्रिया करते समय भी बनी ही रहती है। अत: वह कर्म करते हुए—'गुणा: गुणेषु वर्तन्ते'— 'प्रकृति के गुण गुणों में प्रवृत्त हो रहे हैं', ऐसा जानकर कर्म का द्रष्टा तो होता है किन्तु कर्त्ता नहीं। यही वास्तविक स्वरूपावस्थिति है। इसे ही जीवन्मुक्ति कहा जाता है। प्रश्न होता है कि जब स्वरूप में स्थित योगी की कोई कामना रही ही नहीं तो वह भोजनादि करेगा ही क्यों? उत्तर यह है कि जैसे कोई व्यक्ति तेजी से साइकिल चला कर थोड़ी देर बाद पैडल मारना छोड़ भी दे किन्तु पूर्व में मारे गए पैडल के बल से साइकिल थोड़ी देर बिना प्रयत्न के ही चलती रहती है, उसी प्रकार सकाम अवस्था में किए गए प्रारब्ध कर्मों के बल पर निष्काम होने पर भी योगी उन पूर्वार्जित प्रारब्ध कर्मों के बल पर बिना कामना भी भोजनादि में प्रवृत्त होता रहता है। जब उन पूर्वार्जित कर्मों का बल समाप्त

हो जाता है तो उसकी क्रियाएँ संपन्न हो जाती है। अनेक साधकों को यह प्रतीत हो रहा होगा कि पतञ्जलि यहाँ जीवन्मुक्ति की बहुत ऊँची बात कर रहे हें। साधारण साधक के लिए यह सब व्यवहार्य नहीं है। पतञ्जलि इस कठिनाई को समझते हैं। अत: प्रथम समाधिपाद को वे यहीं विराम दे देते हैं और साधारण साधक के लिए उपयोगी साधनपाद को क्रिया योग से प्रारम्भ करते हैं। क्रियायोग साधन हम, आप सभी कर सकते हैं।

❐❐❐

ॐ

पातञ्जलयोगसूत्र

साधनपाद

सूत्र—तप:स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:॥ २.१॥

अर्थ—तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर प्रणिधान क्रियायोग है।

व्याख्या

साधक क्रियाएँ—योगसूत्र के प्रथम पाद में समाधि तक जाने के लिए जो उपाय बताए वे उन साधकों के लिए उपयुक्त थे जो स्वभाव से भी अल्प राग-द्वेष वाले हैं। उनके लिए वैराग्य साधना सरल है, किन्तु सभी साधकों की मन:स्थिति एक जैसी नहीं होती। कुछ साधकों का राग-द्वेष अत्यन्त प्रबल होता है। उन्हें पहले कुछ और साधन अपना कर अपना चित्त निर्मल बनाना होता है। अत: प्रथम पाद का नाम समाधिपाद था। अब द्वितीय पाद प्रारम्भ किया जाता है जिसका नाम साधनपाद है।

समाधि कुछ करने का नाम नहीं है, वह तो साक्षिभाव का नाम है। किन्तु मध्यम कोटि का साधक सीधा साक्षिभाव में नहीं जा सकता, वह कुछ करने का ही अभ्यासी है। वह सदा यह जिज्ञासा करता है कि वह क्या करे। उसके लिए पतञ्जलि क्रियायोग का भी उपदेश देते हैं।

क्रियायोग के तीन घटक हैं—तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। पहले तप को लें। हम तप का अर्थ समझते हैं—कष्ट झेलना। तप का यह अर्थ अधूरा है। तप का प्रयोजन शरीर, वाणी और मन को निर्मल बनाना है, कष्ट देना नहीं। यह बात दूसरी है कि निर्मल बनाने की इस प्रक्रिया में दूसरों को ऐसा लगे कि साधक अपने को कष्ट दे रहा है।

तप सन्तुलित जीवन शैली का नाम है। जैसे मोटापा घटाने के लिए चर्बी बढ़ाने वाले आहार पर नियंत्रण करना पड़ता है। उसी प्रकार यदि किसी का वजन चिकित्सकीय मानदण्ड के अनुसार कम है तो उसे पौष्टिक आहार भी लेना पड़ सकता है। इसे रसलोलुपता नहीं माना जाएगा। प्रयोजन तो शरीर को योगाभ्यास के योग्य बनाना है। इसलिए शास्त्रकारों ने ऐसे तप का प्रतिपादन किया जो चित्त को निर्मल तथा प्रसन्न रखे और योगाभ्यास में बाधक न बने। जो बात भोजन के बारे में कही गई वही निद्रा के बारे में भी सही है। यदि सात घंटे से अधिक सोना तमोगुण को बढ़ाता है तो चार घण्टे से कम सोना योगाभ्यास के समय में निद्रा ला सकता है। अत: मध्यम मार्ग अपनाना चाहिए।

शरीर के समान वाणी का भी तप मितभाषिता में है। हित-मित वचन बोलना वाणी का तप है। अपवित्र विचारों से बचना मन का तप है। ये सभी तप योगाभ्यास के साधन के रूप में किए जाने चाहिए न कि पूजा-सम्मान प्राप्त करने के लिए अथवा किन्हीं ऐसी अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति के लिए जिनके द्वारा दूसरों को चमत्कृत किया जा सके अथवा किन्हीं को लौकिक लाभ या हानि पहुँचाई जा सके। तब ही वह तप सात्त्विक कहलाएगा।

जब शरीर, मन और वाणी निर्मल तथा प्रसन्न होते हैं, तब ही स्व का अध्ययन अर्थात् स्वाध्याय हो सकता है। शास्त्र का अध्ययन भी

स्वाध्याय कहलाता है, किन्तु उस अध्ययन का फल पाण्डित्य प्राप्त करके अहङ्कारी बन जाना नहीं है अपितु स्व अर्थात् अपने को पहचानना ही है। स्व में स्थिति ही तो योग है किन्तु स्व को पहचाने बिना स्व में स्थिति कैसे हो सकती है? अत: स्वाध्याय का बहुत महत्त्व है।

क्रिया योग का तीसरा घटक है—ईश्वर-प्रणिधान। ईश्वर-प्रणिधान के दो अर्थ हैं। पहला अर्थ तो यह है कि अपने सभी कर्मों को ईश्वरार्पित कर दिया जाए। संसार में निरन्तर एक सर्जन की क्रिया चल रही है। हमारे समस्त कर्म उस विराट् सर्जनात्मकता के ही अङ्ग हैं। इस दृष्टि से अपने सभी कर्मों को विश्व संचालन की प्रक्रिया का अङ्ग मान कर कर्तृत्व का अहङ्कार छोड़ देना चाहिए। दूसरी ओर जब वे कर्म ही ईश्वर को अर्पित कर दिए गए तो फिर उन कर्मों के फल पर भी हमारा अधिकार कहाँ रह जाता है? इस प्रकार ईश्वर-प्रणिधान के द्वारा न हम कर्मों के कर्त्ता रहते हैं न कर्मफल के भोक्ता। तब हम केवल द्रष्टा ज्ञाता रह जाते हैं। यही सहज समाधि है। इस स्थिति में साधक सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता। ऐसा साधक जब ध्यान में बैठता है तो उसका चित्त तत्काल एकाग्र हो जाता है क्योंकि कर्तृत्व का अहङ्कार और भोक्तृत्व का सुख-दु:ख तो उसका पहले ही विलीन हो चुका है।

योग का आधार साङ्ख्य दर्शन है। साङ्ख्य के अनुसार चेतना केवल जानती है। करना और भोगना प्रकृति का काम है। यह विवेक करना ही विवेकख्याति कहलाती है। योग सेश्वर साङ्ख्य है। जो कार्य साङ्ख्य दर्शन में ज्ञान के द्वारा सिद्ध किया जाता है, योग-दर्शन उसी कार्य को ईश्वर-प्रणिधान द्वारा सिद्ध करता है। प्रकृति जड है। जड करती है तथा भोगती है—यह मानना जरा कठिन है। ईश्वर चेतन है। समस्त कर्मों को ईश्वर के कर्म मान लेना सरल है।

सूत्र—समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ २.२॥

अर्थ—(यह क्रियायोग) समाधि की भावना के लिये तथा क्लेशों को क्षीण करने के लिये है।

सूत्र—अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः॥ २.३॥

अर्थ—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—ये (पाँच) क्लेश हैं।

व्याख्या

दुःखों का मूल कारण—हम दुःखों से सुपरिचित हैं। शरीर की आवश्यकता है—रोटी, कपड़ा और मकान। यदि ये न मिलें तो दुःख होता है। यदि ये मिल भी जाएँ किन्तु रोग अथवा जरा के कारण हम में इनके भोगने की शक्ति न हो तो दुःख होता है। शरीर की सब आवश्यकताएँ मिल भी जाएँ और शरीर में उनके भोगने की शक्ति भी हो, तो भी कभी न कभी मृत्यु शरीर को ही छीन लेती है। यह भी दुःख है।

इन सब दुःखों से छुटकारे का उपाय समाधि है। समाधि का अर्थ है कि व्यक्ति सभी अनुकूल-प्रतिकूल मानसिक स्थितियों (=आधि) में सम रहे। यह समाधि इस ज्ञान से उत्पन्न होती है कि मैं शरीर नहीं हूँ। मैं शरीर हूँ—यह अज्ञान ही सब दुःखों की जड़ है। क्रियायोग इस अज्ञान को क्षीण बनाता है। ज्यों-ज्यों अज्ञान क्षीण होता है समाधि की भावना पुष्ट होती है। इसलिए योग सूत्र में अज्ञान को दूर करने पर बहुत बल दिया गया है। ज्ञान का प्रयोजन दुःख की निवृत्ति है। जो ज्ञान दुःख की निवृत्ति न करे वह अज्ञान ही है, ज्ञान नहीं। व्यवसाय-मूलक ज्ञान के साथ-साथ (जिसे अविद्या कहा गया है) उस विद्या की भी आवश्यकता बनी ही रहती है जो हमें यह बोध कराती है कि मैं वह भौतिकेतर तत्त्व

हूँ जिसे जरा, रोग और मृत्यु नहीं व्यापती। इस विद्या से अविद्या दूर हो जाती है तो व्यक्ति दुःखों से मुक्त हो जाता है। यह अविद्या क्लेश की मूल है। क्लेश और दुःख में अन्तर है। दुःख धन के अभावादि बाह्य परिस्थितियों से उत्पन्न होते हैं, क्लेश आन्तरिक अज्ञान से उत्पन्न होते हैं। बाह्य परिस्थितियों को सर्वथा अनुकूल नहीं बनाया जा सकता, अतः न्यूनाधिक मात्रा में दुःख तो बने ही रहते हैं, किन्तु क्लेशों का सर्वथा उन्मूलन किया जा सकता है और जब क्लेश नहीं रहते तो दुःख होते हुए भी हमारी मनःस्थिति को विचलित नहीं कर सकते। यही समाधि है।

अविद्या से अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश नामक चार अन्य क्लेश उत्पन्न हो जाते हैं। ये पाँचों ही क्लेश क्रियायोग से क्षीण होते हैं। अविद्या का अर्थ है कि जो हम नहीं हैं, अपने आपको वह समझ लेना। मूल प्रकृति, महत्, अहङ्कार और शब्द-तन्मात्रा, स्पर्श-तन्मात्रा, रूप-तन्मात्रा, रस-तन्मात्रा और गन्ध-तन्मात्रा—ये प्रकृति के आठ भेद हैं। ये आत्मा नहीं हैं। इन्हें आत्मा समझना अविद्या है। अविद्या का दूसरा फल अस्मिता है। पञ्चभूतों पर चित्त एकाग्र करने से वे भूत साधक की इच्छानुसार परिवर्तित हो जाते हैं, इसके फलस्वरूप शरीर को सूक्ष्म, हल्का और बड़ा किया जा सकता है जिन्हें क्रमशः अणिमा, लघिमा और महिमा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त काम्य पदार्थ की प्राप्ति, कामना में रुकावट न आना, पदार्थों को वश में कर लेना, पदार्थों की उत्पत्ति तथा विनाश का सामर्थ्य तथा सङ्कल्प की पूर्ति रूप प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशित्व तथा यथाकामावसायित्व नामक सिद्धियाँ हैं। इन सिद्धियों को ही परम पुरुषार्थ मान लेना अस्मिता है। तीसरा तथा चौथा क्लेश राग एवं द्वेष है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गन्ध विषय लौकिक भी होते हैं और दिव्य भी। इन दसों के प्रति आसक्ति राग है।